कथा-बत्तीसी

नैतिक शिक्षा एवं ज्ञान-वैराग्यवर्धक जैनधर्म की कहानियाँ

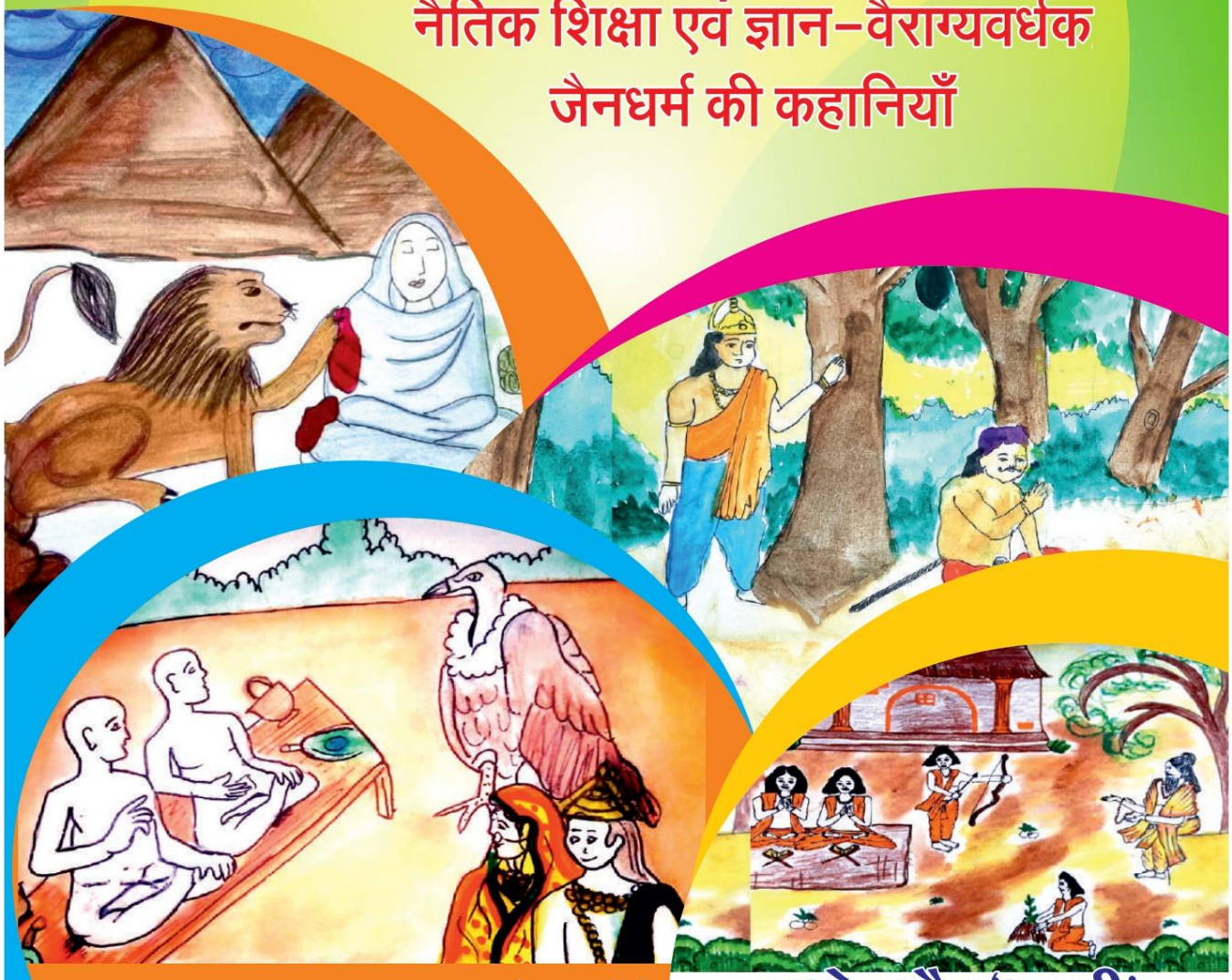

लेखक एवं संकलक - अशोक जैन 'शास्त्री'

श्री महावीर दिगम्बर जैन मंदिर

ओमविहार कॉलोनी, एयरपोर्ट रोड, इन्दौर (म.प्र.) –452005

✲ प्रकाशित कृति ✲

http://bit.ly/GeetKusum

✲ नवोदित चित्रकार ✲

- ✲ आशिका जैन 'शास्त्री', जबलपुर
- ✲ ज्ञप्ति जैन, सागर
- ✲ वर्तिका जैन, सागर
- ✲ दर्शना जैन, इन्दौर
- ✲ रिद्धिमा जैन, इन्दौर
- ✲ दिशिता जैन, बैंगलोर
- ✲ नियम जैन, आगरा
- ✲ शाश्वत जैन, सागर
- ✲ प्रमिति एवं लब्धि जैन, जयपुर
- ✲ अवधि जैन, इन्दौर

वीरशासन जयंती के उपलक्ष्य में

अकलंक-निकलंक जैन ग्रन्थमाला, इन्दौर का

द्वितीय पुष्प

कथा-बत्तीसी

(नैतिक शिक्षा एवं ज्ञान-वैराग्यवर्धक जैनधर्म की कहानियाँ)

✲ लेखक एवं संकलक ✲

अशोक जैन 'शास्त्री'

एम.ए., बी.एड.

✲ संपादक ✲

डॉ. प्रवीणकुमार जैन

शास्त्री, आचार्य, एम.ए., बी.एड.,
बी.जे. (एम.सी.), नेट,
पी.एच.डी.
ध्रुवधाम, बाँसवाड़ा (राज.)

✲ सह-संपादक ✲

प्रो. शान्तिलाल बड़जात्या

श्रीमती संध्या अशोक जैन

एम.ए., बी.एड.
इन्दौर

✲ प्रकाशक ✲

कल्याणमल राजमल पाटनी सिद्ध चेतना ट्रस्ट, कोलकाता

रतन अशोक आरती रुचिका रितिका पाटनी

✲ सह-प्रकाशक ✲

श्री महावीर दिगम्बर जैन मंदिर

ओमविहार कॉलोनी, एयरपोर्ट रोड, इन्दौर (म.प्र.) -452005

वीरशासन जयंती के उपलक्ष्य में
अकलंक-निकलंक जैन ग्रन्थमाला, इन्दौर का
द्वितीय पुष्प

कथा-बत्तीसी

प्रथम संस्करण - 3000 प्रतियाँ
प्रकाशन तिथि - 24 जुलाई, 2021

न्यौछावर राशि : 50/-
(आगामी प्रकाशन हेतु)

सम्पर्क सूत्र :
अशोक जैन 'शास्त्री'
45, ओमविहार कॉलोनी, इन्दौर (म.प्र.)
मो. 9617560570, 7999634248

प्राप्ति स्थान

श्री महावीर दिगम्बर जैन मंदिर
ओमविहार कॉलोनी, एयरपोर्ट रोड, इन्दौर (म.प्र.) -452005

श्री दिगम्बर जैन मंदिर
43/2ए, पद्मपुकुर रोड, भवानीपुर, कोलकाता (प.बं.) -700020
मो. 9874751818 (अमित शास्त्री)

श्री 1008 सीमंधर जिनालय
देवनगर कॉलोनी, बेच नं. 2, भिण्ड (म.प्र.) - 477001
मो. 9826761410, 9826472529

शाश्वत ऑप्टिकल शॉप
गाँधी आई हॉस्पिटल, गऊघाट, परकोटा, सागर (म.प्र.)
मो. 8962678165 (शैलेन्द्र जैन)

मुद्रक : छाया प्रिन्टर्स, इन्दौर

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग देने वाले साधर्मीजन

*** जिनधर्म वत्सल ***

श्रीमान प्रतीक, सोनाली, आगम, ईवा गाँधी परिवार, इन्दौर

*** परम सहयोगी ***

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, कोलकाता (प.बं.)
श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट, साधना नगर, इन्दौर
श्रीमान पदमकुमार, विकास, वैभव, वरुण - पहाड़िया परिवार, इन्दौर
श्रीमान इन्द्रजीत, चन्द्रप्रकाश, तिलकमति, अक्षित, वैदर्वी, एका - गंगवाल परिवार, इन्दौर
श्रीमान मनोज जैन, बंगेला परिवार, सागर (म.प्र.)
श्रीमान अखिल, चारू, आर्यन जैन, इन्दौर (Ex. USA)

*** विशिष्ट सहयोगी ***

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, सनावद (म.प्र.)
श्रीमान लक्ष्मीचन्द जैन, जयपुर (राज.)
श्रीमान मनोज जैन, ओरियन्टल बैंक, इन्दौर
श्रीमान सुनील सराफ, सागर

*** प्रकाशन सहयोगी ***

पं. निर्मलकुमारजी नवीन सिंघई (सिंघई चश्मा) मकरोनिया, सागर
श्रीमान पं. सतीश कासलीवाल, इन्दौर
श्रीमान सौम्य धीरेनभाई शेठ, एडिलेड, ऑस्ट्रेलिया
श्रीमान आदित्य अनिल अजमेरा, इन्दौर
श्रीमती मधु गंगवाल, इन्दौर

श्रीमती विमला जैन (मावेवाले), इन्दौर
श्रीमान शाह हरीशचन्द जैन, इन्दौर
श्रीमान अशोककुमार, तपन बड़जात्या, बड़जात्या ब्रदर्स, इन्दौर
श्रीमान संदीप निधि जैन (देहली वाले), इन्दौर
श्रीमती निवेदिता कपिल जैन, इन्दौर
उर्वी जयम् लुहाड़िया, कोटा (राज.)
श्रीमती विमलादेवी, रिमझिम, जिनय – संघवी परिवार, इन्दौर
श्रीमान रमेशचन्द कुन्दनलाल गोधा, घी वाला परिवार, इन्दौर
श्रीमती शोभना दोशी, इन्दौर
श्रीमान वीरेन्द्रकुमार जैन, लखनऊ (उ.प्र.)
श्रीमती रश्मि अजित शाह, मोरबी (गुज.)
श्रीमती नेहा दीपक कोठारी, कोलकाता
श्रीमती आशा पं. सुशीलकुमार जैन, इन्दौर

आत्मार्थी तरुषी, निवेदिता राजकुमार जैन, इन्दौर
श्रीमान कमल पाडलिया, इन्दौर
श्रीमान डॉ. रवीश जैन, सनावद (म.प्र.)
श्रीमान संदीप जैन, इन्दौर
श्रीमती अर्चना जैन, रायपुर (छ.ग.)

श्रीमान अशोक जैन, जबलपुर (म.प्र.)
श्रीमती नेहा समकित जैन, जामनगर (गुज.)
श्रीमान अनिल दोशी, इन्दौर
श्रीमती लीला जैन, इन्दौर
श्रीमती अंजु जैन, इन्दौर
श्रीमती विमला कटारिया, इन्दौर
श्रीमती मंजु कटारिया, इन्दौर
श्रीमती शकुन्तला विनायका (नीमचवाले), इन्दौर
श्रीमती रानी अशोक डोशी, इन्दौर
श्रीमती माधुरी अनिल जैन, इन्दौर
श्रीमती ऊषा बाकलीवाल, इन्दौर
श्रीमती सुशीला पाटौदी (धार वाले), इन्दौर
श्रीमती नत्थीबाई जैन, रहली (जि. सागर, म.प्र.)
श्रीमती रश्मि संजयकुमार जैन, मड़देवरा (जि. सागर, म.प्र.)

मनोगत

प्रस्तुत कृति 'कथा–बत्तीसी' नैतिक शिक्षा एवं ज्ञान–वैराग्यवर्धक जैनधर्म की कहानियों का संकलन है। इसके पुस्तकाकार परिणत होने में वीतराग देव–गुरु–धर्म के प्रति मेरी असीम भक्ति, जैन सिद्धान्तों को आधुनिक ढंग से प्रस्तुत करने की युक्ति, आबालवृद्धों को मूल पौराणिक कथाओं से जोड़ने की भावना तथा जैनश्रुत की सेवा करने की अन्तःप्रेरणा मुख्य कारक तत्त्व रहे।

साथ ही मेरे सौभाग्य से मुझे पण्डित टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द जी भारिल्ल (छोटे दादा) के मार्गदर्शन में अनेक गुरुजनों के समागम से पाँच वर्षों तक आत्मानुभूति एवं तत्त्वप्रचार हेतु जैनदर्शन के मूलभूत ग्रन्थों का अध्ययन करने का अवसर मिला। बा.ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्' (पण्डित जी साहब) से स्वलक्ष्यपूर्वक मोक्षमार्ग प्रकाशक के मार्गदर्शन में मूल ग्रन्थों से आगम और अध्यात्म के स्वाध्याय की प्रेरणा प्राप्त हुई एवं बा. ब्र. सुमतप्रकाश जी (भाई साहब) से वस्तुपरक चिन्तन एवं प्रतिपादन की कला सीखने को मिली। इससे मुझे उत्तरोत्तर अनेक ग्रन्थों के अभ्यास का अवसर प्राप्त हुआ।

इसी क्रम में जब प्रथमानुयोग के मूलग्रन्थ आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, क्षत्रचूड़ामणि आदि का स्वाध्याय किया, तब इन ग्रन्थों में मुझे अनेक नूतन तथ्य तथा कथानक नजर आये। उन्हीं के प्रकाशन की भावना के फलस्वरूप इस कृति ने आकार लिया है। इस पुस्तक में अनेक अल्पप्रचलित कथाओं के साथ–साथ प्रचलित कथाओं में मूल ग्रन्थों से प्राप्त अनेक दुर्लभ तथ्यों का संकलन किया गया है।

प्रस्तुत कृति के मूर्त रूप लेने में डॉ. प्रवीण जैन शास्त्री का योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने पहले तो उन्हीं के द्वारा संपादित होने वाली 'ध्रुवधाम' नामक मासिक पत्रिका के लिए लगभग तीन वर्षों तक हर महीने एक–एक कथा लिखने के लिए मुझसे आग्रह किया, फिर सभी कथाओं का संकलन कर उन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाने का सुझाव भी दिया। साथ ही इसके संपादन की जिम्मेदारी लेकर इसे श्रेष्ठतम आकार देने के लिए अथक परिश्रम भी किया है। इस कार्य में प्रो. शान्तिलालजी बड़जात्या एवं श्रीमती संध्या जैन इन्दौर का योगदान भी सराहनीय रहा।

प्रतिष्ठाचार्य बा.ब्र.पं. जतीशचन्दजी शास्त्री (भाईजी), पं. नेमीचन्दजी जैन (सिंगपुर वाले), पूर्व प्राचार्य भाग्यचन्द्र जी जैन (दिल्ली वाले), पं. सतीशजी कासलीवाल, श्रीमान विजय बड़जात्या एवं श्रीमती ऊषा जैन, इन्दौर ने कृति को श्रेष्ठ बनाने के लिए हार्दिक प्रोत्साहन एवं उल्लेखनीय सुझाव प्रदान किये।

कृति को आकर्षक बनाने के लिए नवोदित चित्रकारों ने अथक परिश्रम से कथाओं के भावों के अनुरूप चित्रांकन करके प्रशंसनीय कार्य किया है।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशक, सह–प्रकाशक एवं प्रकाशन में आर्थिक योगदान देने वाले सभी साधर्मी भाई–बहनों ने अपने धन को तो सार्थक किया ही है, उन्होंने धर्मप्रभावना में योगदान देकर अनुमोदना योग्य कार्य भी किया है।

एतदर्थ उपर्युक्त सभी महानुभावों के साथ–साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जिनका भी सहयोग इस कृति के तैयार होने में प्राप्त हुआ है, उन सबका हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए, इस विश्वास के साथ यह कृति आप सबके कर–कमलों में समर्पित करते हैं कि यह कृति सबके ज्ञान व वैराग्य की वृद्धि करते हुए सभी को निरन्तर मोक्ष–प्राप्ति के लिए प्रेरित करती रहेगी।

स्व–पर कल्याण की मंगल भावना के साथ...

अशोक जैन 'शास्त्री'

विषय-सूची

मंगलाचरण

प्रस्तावना : प्रथमानुयोग की आवश्यकता

कथा क्र.	कथा	पृष्ठ क्र.
1	संसार-दर्शन कथा	7
2	विनय का फल : कौण्डेश बना कुन्दकुन्द	9
3	अकृतपुण्य बना धन्यकुमार	11
4	विषयानुराग का फल : तन्दुलमत्स्य की कथा	13
5	विषयासक्ति का फल : एक कौआ	14
6	प्राप्त पर्याय में तन्मयता : राजा बना कीड़ा	15
7	राजा सत्यन्धर की विषयासक्ति एवं विरक्ति	17
8	गुरु आर्यनन्दी और शिष्य जीवन्धरकुमार	19
9	महामंत्र का महाप्रभाव : कुत्ता बना देव	22
10	राजा जीवन्धरकुमार का वैराग्य	24
11	ये कैसी गुरुदक्षिणा ?	27
12	राजा श्रीषेण और उनके पुत्र	29
13	दानविवेकी राजा मेघरथ	31
14	वज्रबाहु का वैराग्य	33
15	नरभक्षी बना महाव्रती	35
16	महान शिष्यों के महान गुरु	37
17	मित्रता की मिशाल : पद्मरुचि व वृषभध्वज	39
18	सम्यग्दृष्टि श्रावक : जटायु	41
19	रावण का अन्तिम संस्कार	44
20	सीता का वैराग्य एवं तपश्चर्या	46
21	जिनशासन का प्रभाव : परस्त्रीगामी बना इन्द्र	48
22	भामण्डल की दानशीलता	50
23	विद्यारम्भ की कथा	52
24	सिंह से सिद्धत्व की ओर	54
25	तीर्थंकर अजितनाथ	56
26	सच्चा मित्र : सगर एवं मणिकेतु	59
27	निर्वाणस्थली गंगा	62
28	बलदेव की तपश्चर्या	64
29	उपसर्गजयी यशोदा-पुत्री	66
30	पिता-पुत्र का केवलज्ञान महोत्सव	68
31	अनंगलवण व मदनांकुश	72
32	चरित्रवान एवं महापराक्रमी बालक : कृष्ण	77

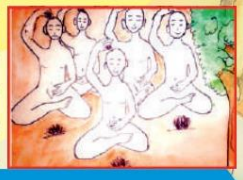

आयु घटत है रात-दिन, ज्यों करौंत-तैं काठ।
हित अपना जल्दी करो, पड़ा रहे सब ठाठ॥

मंगलाचरण

वर्धक ज्ञान-विराग-सुख, कहूँ 'कथा-बत्तीस' ।
वीरनाथ, गुरु, जिनवचन, को नमकर नित सीस ॥

पंच प्रभु का नाम ले, बढ़ता पुण्य अपार ।
फिर उनकी सत्कथा सुन, क्यों न हों भव-पार ॥

प्रभु का जीवन चरित है, हम सबको आदर्श ।
महापुरुष, महासती का, जीवन देता हर्ष ॥

लौकिक जीवन प्रभु का, प्रेरक है जग-बीच ।
जीवन जीने की कला, सिखलाता बहुरीत ॥

पापीजन का कथन भी, कथा मध्य जब आय ।
पापभाव-फल जानकर, पाप तजूँ दुःखदाय ॥

धर्मरहित जो कथा है, विकथा उसको मान ।
पापास्रव की हेतु है, तजूँ उसे हित जान ॥

पाप-परायण पुरुष की, कथा पापमय होय ।
पापवर्धनी कथा तज, पाप-त्याग, सुख होय ॥

धर्मवर्धनी कथा ही, धर्मकथा कहलाय ।
धर्मकथा में मन लगा, विकथा नहीं सुहाय ॥

पुण्य-पाप फल जानकर, त्यागूँ पाप विकार ।
वीतरागता प्रगटकर, पहुँचूँ मुक्ति मँझार ॥

भव-तन-भोग स्वरूप लख, तज दूँ घर-संसार ।
मुनि बन, ध्या निज आतमा, पाऊँ सुख अविकार ॥

प्रस्तावना :
प्रथमानुयोग की आवश्यकता

वर्तमान युग टी.वी., कम्प्यूटर, मोबाइल और इन्टरनेट का युग कहा जाता है। जहाँ तक नजर जाती है, लोग इन तथाकथित विज्ञान के आविष्कारों में ही लीन रहते हैं। खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते- हर वक्त सबकी नजरें इन्हीं पर टिकी रहती हैं। यदि देखते हैं तो यही, सोचते हैं तो यही, बात करते हैं तो इन्हीं की, यहाँ तक कि सपने देखते हैं तो इन्हीं के तथा सभी के आदर्श भी फिल्म, धारावाहिक, कार्टून आदि के कलाकार ही बनते जा रहे हैं। किसी को न आत्मा को जानने की जिज्ञासा दिखायी देती है, न ही परमात्मा के दर्शन करने की चाहत। यहाँ तक कि न बच्चों के संस्कारों की चिंता है, न रिश्ते निभाने की फुर्सत। बस, सोते-जागते इनमें ही मस्त रहते हैं।

अरे भाई ! कभी विचार तो करो कि 'इन भावों का फल क्या होगा ?' टी.वी. आदि के माध्यम से दिखायी जाने वाली फिल्में, धारावाहिक तथा अन्य पापवर्धक जानकारी हमें कहाँ ले जायेगी ? इन सबसे हमारा शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक और धार्मिक - सब तरह का पतन ही होने वाला है। इन माध्यमों से हम पापों की वृद्धि, विषय-कषाय का पोषण, व्यभिचार का प्रशिक्षण, सप्त व्यसनों का सेवन तथा गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करते हैं तथा आर्त-रौद्रध्यान कर दुर्गति के ही बीज बोते हैं। याद रखें - यह दूरदर्शन (टी.वी.) हमें देवदर्शन से तो दूर करता ही है, आत्मदर्शन की संभावना भी समाप्त कर देता है। इसलिए ही श्रद्धेय बाबू युगलजी (कोटा) कहा करते थे कि 'टी.वी. आँखों से पिया जाने वाला नीला जहर है।' अतः हमें सावधान हो जाना चाहिए तथा विचार करना चाहिए कि हम क्या कर रहे हैं तथा इसका क्या परिणाम होगा ?

यह बात सुनकर कुछ तथाकथित मुमुक्षु लोग या उपदेशक कहते हैं कि हम फिल्म, धारावाहिक, नाटक आदि के माध्यम से संसार की असारता आदि देखकर अपने वैराग्य का पोषण करते हैं। इसके जवाब में यही कहूँगा कि यदि आप इन सबका त्याग नहीं कर सकते तो मत करो, परन्तु स्वयं को तथा दूसरों को छलो तो मत; इनका पोषण तो मत करो तथा आप यदि इतने बुद्धिमान हैं कि जहर में से भी अमृत निकाल सकते हैं तो प्रथमानुयोग के शास्त्रों में से वचनामृत निकालें, कथामृत निकालें। जिससे स्वयं के ज्ञान-वैराग्य का तो पोषण होगा ही, साथ ही दूसरों को भी आत्मकल्याण की प्रेरणा मिलेगी। स्वयं तो आत्मसाधना के मार्ग में आगे बढ़ेंगे और अन्य भी इस मार्ग में लग सकेंगे।

यहाँ कोई कहेगा कि प्रथमानुयोग के शास्त्रों में तो कहानियाँ होती हैं, उसमें आत्मा की बात, छह द्रव्य, सात तत्त्वों की बात, स्वानुभव की विधि एवं जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की बात तो होती नहीं है, इनका वर्णन तो द्रव्यानुयोग (अध्यात्म) के शास्त्रों में होता है, अतः हम तो उन्हीं का अभ्यास करते हैं, कथाओं में अपना उपयोग नहीं उलझाते।

भाई ! यदि आप द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करके स्वानुभव का पुरुषार्थ करते हैं, चैतन्य की साधना में ही मग्न रहते हैं, आपके परिणामों की विशुद्धि बढ़ती ही जा रही है, आत्मशुद्धि के अनुरूप आपका बाह्य जीवन भी सदाचारपूर्ण है, यथायोग्य व्रतादिकों में भी वृद्धि हो रही है तो आपसे ज्यादा कुछ नहीं कहा जाना चाहिए, परन्तु यदि अध्यात्म शास्त्रों का अभ्यास करते-करते उपयोग शिथिल होने लगे या शास्त्राभ्यास करके ही संतुष्टि मिलने लगे या सिद्धान्तों के गूढ़रहस्यों का उद्घाटन करने में ही अपने श्रम की सार्थकता लगने लगे या शास्त्राभ्यास एवं आत्मचिंतन करके ही अपने को सम्यग्दृष्टि या मोक्ष का अधिकारी मानने लगे हैं तो आपको यथायोग्य प्रथमानुयोग में वर्णित तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र तथा अन्य मोक्षमार्गी या मुक्त जीवों का चरित्र जानना चाहिए तथा उनसे सीखना चाहिए कि ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान होने पर भी सम्यग्दर्शन के बिना वे पूर्वभवों में संसार में ही क्यों रुलते रहे ?

तथा यदि आप प्रथमानुयोग के शास्त्रों को हेय बताकर टी.वी., अखबार आदि में मग्न रहते हैं तो आपके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं कही जा सकती।

प्रथमानुयोग के शास्त्रों में तो अन्य तीनों अनुयोगों का यथायोग्य व यथास्थान समावेश होता ही है, क्योंकि महापुरुष द्रव्यानुयोग के अनुसार तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान एवं आत्मध्यान करते हैं; चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि का पालन करते हैं; करणानुयोग के अनुसार अपने परिणामों की सँभाल करते हैं और इस प्रकार वे प्रथमानुयोग में वर्णित कथा के महान पात्र बनते हैं।

अतः प्रथमानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास कर हम भी प्रथमानुयोग के पात्र बनें।

1 संसार-दर्शन कथा

अनेक जीवों से भरी हुई संसाररूपी अटवी के समान एक बहुत भयानक वन में दैवयोग से किसी पथिक ने प्रवेश किया। जैसे ही वह जंगल में पहुँचा, उसके सामने यमराज के समान सूँड को ऊँची किये हुए क्रोधित होता हुआ बहुत बड़ा भयंकर हाथी आ गया। हाथी को देखकर वह पथिक बहुत भयभीत हो गया और भीलों के मार्ग से भागते हुए पहले कभी नहीं देखे हुए एक अंधकूप में गिर पड़ा। जिस प्रकार दुर्गम नरक में कोई नारकी धर्म का अवलम्बन करके रहता है, उसी प्रकार वह भयभीत पथिक उस कुएँ में गिरता-गिरता वटवृक्ष की जड़ को पकड़ कर लटकने लगा। वह हाथी पथिक का पीछा करते-करते उसी कुएँ के पास आ गया।

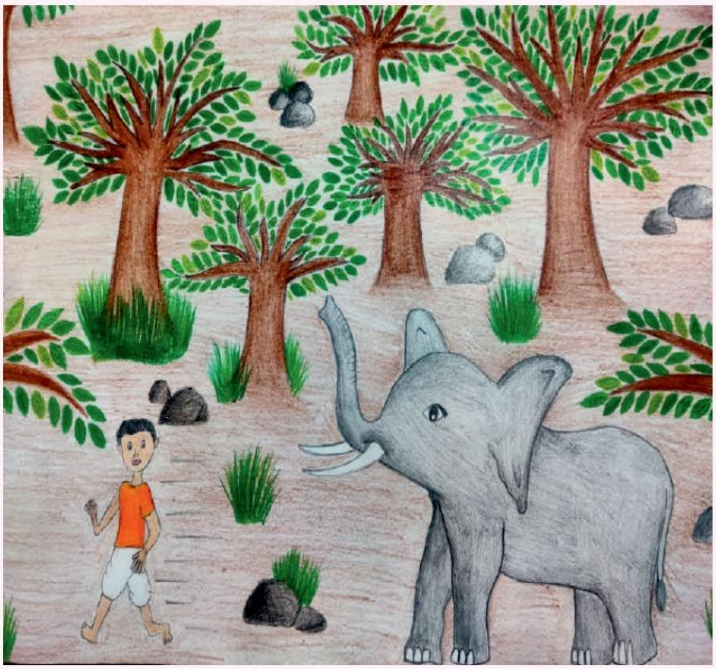

हाथी के भय से भयभीत होकर पथिक नीचे की ओर देखने लगा। उसे उस कुएँ में यमराज के दण्ड के समान पड़ा हुआ; बहुत बड़ा एक अजगर दिखायी दिया। वह बहुत भयभीत हुआ, क्योंकि कुएँ के ऊपर हाथी के रूप में यमराज खड़ा ही था और नीचे अजगर उसे निगलने के लिए तैयार था। फिर क्या देखता है कि उस वटवृक्ष की जड़ को एक श्वेत और एक कृष्ण- ऐसे दो चूहे निरंतर काट रहे हैं। जैसे शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष मनुष्य की आयु को काटते हैं।

उस कुएँ में चारों कषायों के समान बहुत लम्बे-लम्बे अति भयानक चलते-फिरते चारों दिशाओं में चार सर्प दिखायी दिये। उसी समय उस हाथी ने क्रोधित होकर, जैसे संयम को असंयम हिला देता है, उसी प्रकार कुएँ के समीप खड़े हुए उस वृक्ष को पकड़ कर जोर से हिलाया। उसके हिलने से उस पर जो मधुमक्खियों का छत्ता था, उसमें से समस्त मक्खियाँ निकलकर उस पथिक के शरीर पर चिपटकर उसे महादुःख देने लगीं। वह पथिक चारों तरफ से मर्मभेदी पीड़ा देने वाली उन मधुमक्खियों से घिरा हुआ अतिशय दुःखित हो ऊपर की ओर देखने लगा। उस वृक्ष की तरफ ऊपर की ओर मुख को उठाकर देखते ही उसके होंठों पर बहुत छोटा-सा मधु का एक बिंदु आ पड़ा।

वह मूर्ख उस नरक के दुःखों से भी अधिक दुःख को कुछ भी दुःख न समझ, उस मधुबिंदु के स्वाद को लेता हुआ अपने को महासुखी मानने लगा। इसकारण वह अधम पथिक उन समस्त दुःखों को भूलकर उस मधुकण के स्वाद में ही आसक्त हो, फिर से मधुबिंदु के पड़ने की अभिलाषा करता हुआ ऊपर की ओर निश्चल मुख हो लटकता रहा।

उसी समय वहाँ से एक विमान में बैठकर एक विद्याधर और विद्याधरी जा रहे थे। उनकी दृष्टि उस मनुष्य पर पड़ी। उसकी दुर्दशा देखकर विद्याधरी ने विद्याधर से उस मनुष्य को उन संकटों से बाहर निकालने की प्रार्थना की।

श्रीगुरु के समान विद्याधर ने उसके निकट जाकर अपना हाथ बढ़ाते हुए उस मनुष्य से कहा कि वह उनका हाथ पकड़कर संकटों से मुक्त हो जाये; परन्तु वह कहने लगा कि 'मधु की एक बूँद और टपकने वाली है, वह उसका रसास्वादन करना चाहता है।'

अन्ततः वे दोनों उसे समझाते-समझाते और उसे संकटों से मुक्त होने की प्रेरणा देते-देते थक गये; परन्तु वह पथिक मनुष्य एक-और मधुबिन्दु की चाह में वहीं लटका रहा तथा दुःख में भी सुख की मिथ्या कल्पना करता रहा।

इसलिए हे भाई ! उस समय पथिक को जितना सुख-दुःख है, उतना ही सुख-दुःख महाकष्टों की खानरूप इस संसाररूपी घर में इस जीव को है। जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि - वह वन तो पाप है। जो पथिक है, वह जीव है। हाथी है, वह मृत्यु (यमराज) के समान है। जो वटवृक्ष की जड़ है, वह जीव की आयु है और कुआँ है, वह संसार है। अजगर है, वह नरक है। श्वेत-श्याम दो मूषक हैं, वे शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष हैं , जो उम्र को घटा रहे हैं। चार सर्प हैं, वे क्रोध, मान, माया, लोभ- चार कषायें हैं तथा मधुमक्खियाँ है, वे शरीर के रोग हैं। मधु की बिन्दु का जो स्वाद है, वह इन्द्रियजनित सुख है। इसप्रकार संसार में सुख-दुःख का विभाग है।

वास्तव में संसार में भ्रमण करते हुए जीवों के सुख-दुःख का विभाग किया जाय तो मेरुपर्वत के बराबर तो दुःख है और सरसों के बराबर सुख है। इस कारण संसार का त्याग करने के लिए ही निरंतर उद्यम करना चाहिए। जो मूढ़ अणुमात्र सुख के लिए विषय-सेवन करते हैं , वे मानो शीत की बाधा दूर करने के लिए वज्राग्नि से (बिजली की अग्नि से) तापने की इच्छा करते हैं । यदि ढूँढा जाय तो कहीं पर अग्नि में भी बर्फ मिल सकता है; परन्तु संसार में सुख की प्राप्ति किसी काल में कहीं भी नहीं हो सकती। अतः सच ही कहा है -

आयु घटत है रात-दिन, ज्यों करौंत-तैं काठ।
हित अपना जल्दी करो, पड़ा रहे सब ठाठ॥

आधार : आचार्य अमितगति कृत धर्मपरीक्षा

2 विनय का फल : कौण्डेश बना कुन्दकुन्द

एक कुडमलई (कौण्डकुन्दपुर) नाम का गाँव है। उसमें मतिवरण (कौण्डेश) नाम का ग्वाला रहता था। वह पढ़ा-लिखा तो नहीं था, किन्तु अत्यन्त विनयवान एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति था। वह अपने सेठ की गायें चराने के लिए जंगल जाता था। वह नियमित रूप से उन्हें चराने ले जाता और उनका ध्यान रखता तथा वापस लाकर उन्हें सेठ की गौशाला में बाँध देता। इस प्रकार वह गायों का प्रेमपूर्वक पालन करता था।

एक बार जब वह गायें चराने के लिए जंगल पहुँचा, तब उसने देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर नष्ट हो गया है, परन्तु एक वृक्ष हरा-भरा है। वह आश्चर्य में पड़ गया कि सारा जंगल नष्ट होने पर भी यह वृक्ष हरा-भरा कैसे रह गया ? यह क्यों नहीं जला ? आखिर बात क्या है ? जब उसने वृक्ष के चारों ओर जिज्ञासापूर्वक ध्यान से देखा तो उसे उस वृक्ष की कोटर में एक शास्त्र रखा दिखायी दिया। उसे इसका कारण समझने में ज्यादा देर नहीं लगी। वह समझ गया कि यह तो इस शास्त्र का ही चमत्कार है। उसने उस परम पवित्र चमत्कारी शास्त्र को साष्टांग नमस्कार किया। बड़ी ही विनय से उसे उठाया। अपने मस्तक पर विराजमान करके अपने घर ले गया। उसे एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया तथा निरन्तर उसका विशेष बहुमान करने लगा। शास्त्र देखकर वह उसकी महिमा से रोमांचित हो जाता था। यद्यपि उसे 'काला अक्षर भैंस बराबर' था, परन्तु शास्त्र की प्राप्ति-संबंधी चमत्कारिक घटना याद करके उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहता था।

एक दिन गायें चराते हुए उसे एक दिगम्बर मुनिराज दिखे। उन्हें देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि '' जैन मुनिराज तो महान विद्वान होते हैं, क्यों न यह शास्त्र उन्हें भेंट कर दिया जाये। मैं तो अनपढ़-गँवार रह गया, मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता, परन्तु ये मुनिराज तो शास्त्र के रहस्य को समझ सकते हैं। यह विचार कर वह शीघ्र घर गया और बड़े ही आदर के साथ शास्त्र ले आया और मुनिराज को प्रदान कर दिया। शास्त्रदान करते हुए उसका हृदय हर्ष से आपूर्ण था। उसने आदर, भक्ति और आनन्दपूर्वक शास्त्रदान किया था।

जैसे ही मुनिराज ने वह शास्त्र अपने हाथों में लिया, उनका चेहरा प्रसन्नता से खिल गया। मुनिराज की प्रसन्नता देखकर ग्वाला और अधिक प्रसन्न हुआ। वह एक जैन शास्त्र था। मुनिराज शास्त्र पढ़ते हुए बोल उठे - 'अहाहा ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है। ग्वाला जिज्ञासापूर्वक मुनिराज के चरणों में बैठ गया और प्रार्थना करने लगा कि उस चमत्कारिक शास्त्र का मर्म उसे भी बताया जाए। उसकी प्रार्थना सुनकर मुनिराज ने कहा - '' हे भव्य ! तुम भी एक जीव हो। सुख तुम्हारे अन्दर ही है तथा ज्ञानलक्षण से तुम स्वयं को जान सकते हो। तुम इस शरीर से भिन्न अपने आत्मस्वरूप को जानो, पहचानो और उसमें ही लीन हो जाओ तो तुम भी भगवान बन सकते हो। अतः संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर तुम अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करो। ''

मुनिराज का उपदेश सुनकर ग्वाला संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहने लगा तथा विचार करने लगा कि 'मैं आत्मा हूँ, ज्ञान मेरा स्वभाव है, मै स्वयं को जानकर, पहचान कर, उसमें लीन होकर भगवान बन सकता हूँ तथा ये गायें भी मेरे ही समान जीव हैं। ये भी आगे चलकर भगवान बन सकती हैं' – ऐसा विचार कर गायों के प्रति और अधिक दयालु हो गया।

एक दिन एक गाय पानी पीने के लिए तालाब के किनारे गयी। वहाँ उसका पैर फिसल गया और वह तालाब में गिर गयी। जब ग्वाले ने गाय को पानी में डूबते हुए देखा तो वह उसे बचाने के लिए तालाब में घुस गया। तालाब में एक ठूँठ से टकराकर ग्वाले की मृत्यु हो गयी।

धन्य है ग्वाले का जीवन! वह अनपढ़ होने पर भी यह समझ गया कि जैनशास्त्र में कोई अद्‌भुत बात लिखी है। उसने जिनवाणी की भक्ति की, उसकी विनय की और उत्तम पात्र मुनिराज को शास्त्रदान दिया। मुनिराज से शास्त्र का रहस्य सुनकर अत्यन्त हर्षित हुआ। तत्त्वविचार में मग्न रहने लगा। अन्य जीवों को अपने समान देखता हुआ उनके प्रति दयालु हो गया। परमार्थ के उपदेश से उसका व्यवहार भी पवित्र हो गया। अन्त में शान्त परिणामों से मरा। इन परिणामों का यह फल हुआ कि वह ग्वाला मरकर अगले भव में कलिकाल सर्वज्ञ, महान दिग्गज आचार्य, जिनशासन प्रभावक, भारतभूमि में अलंकार-स्वरूप, समयसार आदि पंच परमागमोंरूपी द्वितीय श्रुतस्कंध का प्रणेता हुआ और 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

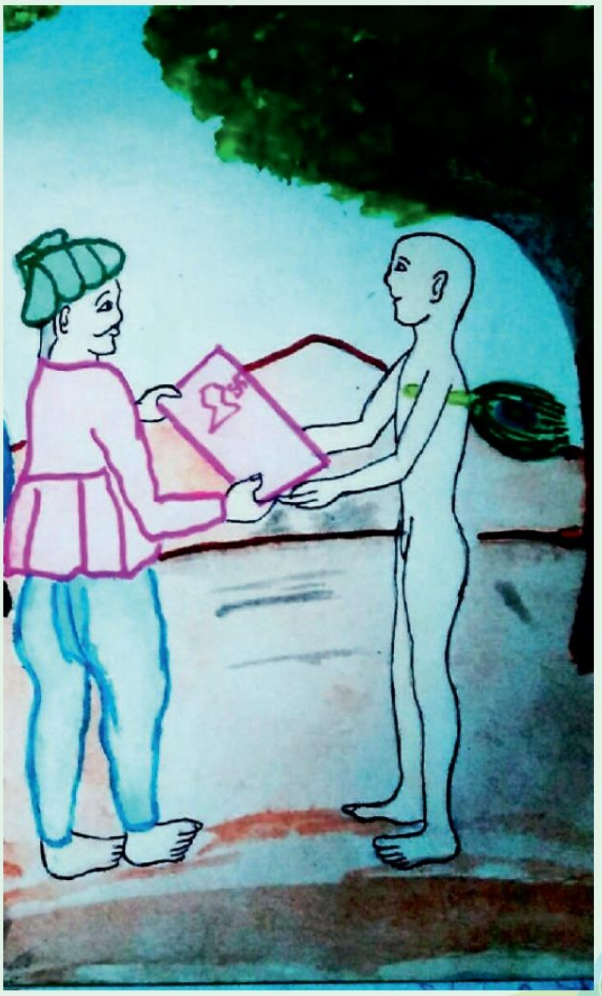

यह पूर्वभव में की गयी जिनवाणी की विनय का ही फल था कि बालक कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) जन्म से ही महान प्रतिभाशाली थे। वे ग्वाले के भव में एक अक्षर भी पढ़ना नहीं जानते थे, परन्तु वर्तमान भव में इस तरह सारी विद्याएँ सीख गये, जैसे सब कुछ पहले से ही जानते थे, बस भूल गये थे और विद्वानों के द्वारा बताये जाने पर सारी विद्याएँ याद आ गयी हों। यह सब जिनवाणी की विनय तथा पवित्रता का ही फल था, जो संस्काररूप में वर्तमान भव में जागृत हो गया था। ग्यारह वर्ष की आयु में ही उन्होंने जिनदीक्षा धारण कर ली और महान तपश्चरण किया एवं तैंतीस वर्ष की आयु में ही उन्होंने आचार्य पद प्राप्त किया। ये सब जिनवाणी की विनय एवं शास्त्रदान का ही फल था।

अतः हम भी विनयपूर्वक जिनवाणी का स्वाध्याय कर समयसारस्वरूप निजात्मा को जानकर परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करें।

आधार :– पुण्यास्रव कथा कोष / आराधना कथा कोष

3 अकृतपुण्य बना धन्यकुमार

भोगावती नाम की एक नगरी थी। नगरी का नाम जितना शुभ था, वह बालक उतना ही अशुभ था। उसके पैदा होते ही उसके पिता चल बसे। घर की सारी सम्पदा नष्ट हो गयी। अत्यन्त दरिद्रता के कारण उसकी माँ को वह गाँव छोड़कर जाना पड़ा। माँ ने विचार किया कि वह अपने गाँव में तो कोई छोटा काम कर नहीं सकती, क्योंकि इससे उसकी प्रतिष्ठा तथा कुल की गरिमा एवं नाम मिट्टी में मिल जाता। वह धन-सम्पदा को तो बचा नहीं सकी, कम-से-कम मान-प्रतिष्ठा ही बचा ले। इसलिए वह दूसरे गाँव में जाकर एक सेठ के यहाँ रसोई बनाने का काम करके अपनी जीविका चलाने लगी और पुत्र का भी पालन करने लगी।

एक दिन की बात है, जब बालक की माँ ने रसोई में सेठ और उनके सात पुत्रों के लिए भोजन में खीर बनायी, तब तो बड़ा ही गजब हो गया। जब सातों बच्चे मजे से खीर खा रहे थे, तब वह अभागा बालक उन बच्चों को लालचभरी नजरों से खीर खाते हुए देख रहा था। सेठ के बच्चों को यह अच्छा नहीं लगा कि उन्हें कोई खाते हुए इस तरह देखे, कहीं उसकी खाने में नजर लग गयी तो क्या हो ? अतः वे उसे गुस्से से देखने लगे तथा उसे वहाँ से चले जाने के लिए कहने लगे। जब वह न माना तो वे सातों बच्चे अचानक उठ खड़े हुए और उस बालक को लात-घूँसे से मारने लगे। उन बच्चों ने उसे मार-मार कर अधमरा कर दिया तथा बड़ी मुश्किल से उन्हें रोका जा सका।

सेठ को इस घटना की जानकारी मिली तो उन्हें उस बालक के प्रति बहुत दया उत्पन्न हुई। उन्होंने अपने बच्चों के कृत्य पर दुःख प्रकट करते हुए उसकी माँ को खीर बनाने की सारी सामग्री देकर अपने घर में खीर बनाकर अपने बालक को खिलाने के लिए कहा। बालक की माँ ने अपने घर में बड़ी ही स्वादिष्ट खीर बनायी। बालक बड़ा खुश था कि आज उसे खीर खाने मिलेगी।

खीर बनाने के बाद माँ ने उस बालक से कहा कि ''बेटा ! हमने आज तक कोई पुण्य के काम नहीं किये हैं, तभी तो ऐसा पाप फलित हुआ है। तुम्हारे पिताजी नहीं रहे, धन-सम्पदा नष्ट हो गयी, हम बेघर हो गये और तुम्हारे साथ ऐसा दुर्व्यवहार हुआ और इसलिए ही लोग तुम्हें 'अकृतपुण्य' के नाम से बुलाते हैं। इसका मतलब है-अभागा, भाग्यहीन या पुण्यहीन। अतः हमें कोई पुण्य का काम करना चाहिए, क्योंकि पुण्य के उदय को ही भाग्य कहते हैं। हम अपना भाग्य अपने सद्कर्मों से बदल सकते हैं। मेरा मन हो रहा है कि आज हम यह खीर पहले मुनिराज को आहार के रूप में प्रदान करें, फिर बची हुई खीर हम खायें।'' माँ की बात सुनकर बालक भी प्रसन्नतापूर्वक आहारदान के लिए तैयार हो गया।

माँ ने बालक से कहा - '' मैं कुएँ से एक घड़ा पानी भरकर लाती हूँ, तब तक तुम घर के दरवाजे पर ही खड़े रहना तथा देखना कि कोई मुनिराज आहार के लिए आ रहे होंगे। ध्यान रखना कि आज हमें मुनिराज को खीर का आहार कराना है, अतः कहीं मुनिराज यहाँ से आगे न निकल जायें। माँ का आदेश पाकर बालक प्रमाद छोड़कर उत्साहपूर्वक 'अतिथि-प्रेक्षण' करने लगा। तभी उसे दूर, बहुत दूर मुनिराज आते हुए दिखायी दिये। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। धीरे- धीरे मुनिराज उसी ओर चले आ रहे थे। नग्न दिगम्बर, सौम्य मुद्राधारी, जिनके पास केवल पिछी और कमण्डल था। चार हाथ आगे की जमीन देखते हुए, आँकड़ी बाँधे हुए आहार के लिए ही गाँव में चले आ रहे थे। बालक मुनिराज की मुद्रा को देख-देखकर फूला नहीं समा रहा था।

परन्तु यह क्या हुआ ? मुनिराज तो बालक के घर से आगे बढ़ने लगे। बालक मुनिराज की ओर दौड़ा, उसने मुनिराज के पैर पकड़ लिये। वह कहने लगा कि ''मेरी माँ ने मुझे आदेश दिया है कि आज मुनिराज को आहार कराना है, कृपया आप आहार करके ही जायें। परन्तु मुनिराज तो विधिपूर्वक पड़गाहन करने पर अन्तराय-रहित ही आहारग्रहण करते हैं, अतः बालक के आग्रह मात्र से तो आहार नहीं कर सकते थे। साथ ही बालक पैर पकड़े हुए था, अतः जबरन आगे भी नहीं बढ़ सकते थे। यदि बालक की माँ घड़ा भरकर नहीं आ गयी होती तो मुनिराज अन्तराय का विचारकर आहार किये बिना ही लौट जाते। परन्तु माँ ने वही पानी भरा घड़ा हाथ में लेकर मुनिराज का पड़गाहन करना प्रारम्भ कर दिया।

माँ बोल उठी – ' हे स्वामी ! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, अत्र, अत्र, अत्र, तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ। हे स्वामी ! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्ध है, भोजनशाला में प्रवेश कीजिए -इत्यादि प्रकार से नवधा भक्ति पूर्वक खीर का आहार कराया गया। आहार निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। बालक तो खीर खाने के बारे में भूल ही गया। आहार कराते समय वह अपार प्रसन्न हुआ। उसने अपने पूर्वबद्ध पापों को क्षीण कर दिया। अपार पुण्य का संचय किया।

निरन्तराय आहार सम्पन्न होने के उपरान्त जब मुनिराज घर से निकलकर किसी योग्य स्थान पर बैठ गये, तब बालक की माँ ने मुनिराज से पूछा – 'हे मुनिवर ! मेरा पुत्र इतना भाग्यहीन क्यों हुआ ? इसने पूर्व में ऐसा कौन-सा पाप किया था ?' माँ का प्रश्न सुनकर मुनिराज अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रों से देखकर कहने लगे कि यह पूर्व भव में एक ब्राह्मण था। इसका एक धर्मात्मा मित्र था। वह प्रतिदिन तिथि के अनुसार नियमपूर्वक जिनमन्दिर में स्वर्णमुद्राएँ चढ़ाता था। एक बार उसे व्यापार के लिए अन्य देश जाना पड़ा तो वह अपने मित्र ब्राह्मण को गिनकर निश्चित स्वर्णमुद्राएँ दे गया और उसे कह गया कि इन्हें तिथि के अनुसार जिनमन्दिर में चढ़ाते रहना, जिससे मेरा नियम टूटे नहीं। ब्राह्मण ने मित्र से स्वर्णमुद्राएँ ले लीं और मित्र की अनुपस्थिति में वे मुद्राएँ नियमितरूप से मन्दिर में चढ़ाने लगा, परन्तु एक बार उसके मन में लालच जागृत हो गया।

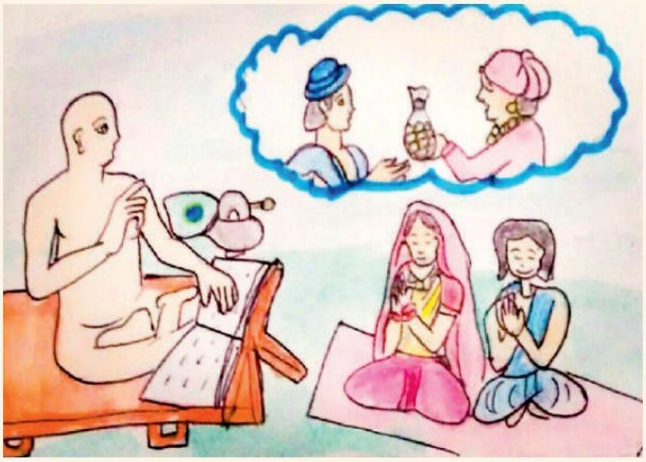

वह सोचने लगा कि यदि वह किसी दिन स्वर्णमुद्राएँ नहीं चढ़ायेगा तो किसे पता चलेगा ? और उसने मन्दिर में स्वर्णमुद्राएँ चढ़ाना बंद कर दिया तथा उन स्वर्णमुद्राओं को अपने भोग के कार्यों तथा जुआ आदि सप्त व्यसनों में लगाकर पाप का संचय करने लगा। उसने देवद्रव्य या निर्माल्य का सेवन कर अत्यन्त पाप का संचय किया और वहाँ से मरकर यह अकृतपुण्य नामक बालक हुआ है तथा इस भव में अपने पूर्व में किये गये पापों का फल भोग रहा है।

परन्तु आज इस अकृतपुण्य ने अपार पुण्य का संचय किया है। यह अगले भव में महान पुण्यशाली 'धन्यकुमार' नामक महापुरुष होगा तथा यह निकट भव्य है, अतः आगामी भवों में सिद्ध अवस्था को प्राप्त करेगा।'' इतना कहकर अकृतपुण्य को धर्मवृद्धि का आशीर्वचन प्रदान करते हुए वे अन्यत्र विहार कर गये।

अकृतपुण्य अपनी आयु पूर्ण करके अगले भव में महान पुण्यशाली 'धन्यकुमार सेठ' हुआ और महान पुण्य का फल भोगता हुआ, अन्त में दिगम्बरी दीक्षा लेकर सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की और अगले भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।

आधार :- धन्यकुमार चरित्र

4 विषयानुराग का फल : तन्दुलमत्स्य की कथा

एक राजा था। वह न्यायप्रिय, सत्यवादी एवं सदाचारी था। वह माँस-भक्षण का सर्वथा त्यागी था। वह शाकाहार में ही विश्वास रखता था। सभी को माँस न खाने के लिए ही प्रेरित करता था। एक समय वह किसी माँसप्रिय व्यक्ति की कुसंगति में पड़ गया। धीरे-धीरे उस राजा के मन में भी माँस खाने का भाव उत्पन्न होने लगा।

एक बार राजा ने अपने रसोइये को बुलाया और उससे कहा कि 'वह गुप्त रूप से उसके लिए प्रतिदिन माँस पकाकर खिलाये। राजा की आज्ञानुसार रसोइया माँस पकाने लगा। रसोइया प्रतिदिन राजा के लिए माँस पकाता, परन्तु प्रतिदिन कोई न कोई बाधा उपस्थित होने के कारण वह माँस नहीं खा पाता था।

एक दिन जब रसोइया राजा के लिए गुप्तरूप से माँस पका रहा था, तभी एक साँप ने उसे डँस लिया। साँप का विष रसोइये के पूरे शरीर में फैल गया, इससे उसकी मृत्यु हो गयी। वह मरकर स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हुआ। कुछ समय पश्चात् राजा की भी मृत्यु हो गयी। वह मरकर उसी स्वयंभूरमण समुद्र में उसी महामत्स्य के कान में तन्दुल (चावल) के आकार का कीड़ा हुआ। उसे तन्दुलमत्स्य कहा जाता है।

तन्दुलमत्स्य महामत्स्य के कान में रहता था, उसके कान का मैल खाता था, वह वहाँ पर महामत्स्य के मुख में अनेक जल-जन्तुओं को भीतर जाते और बाहर आते हुए देखकर अपने मन में विचार करता था – ''अहो ! यह मच्छ कितना अभागा और मूर्ख है, जो अपने मुख में आये हुए जन्तुओं को छोड़ देता है। यदि मेरा इतना बड़ा मुँह होता तो सारे समुद्र को जन्तुरहित कर देता।''

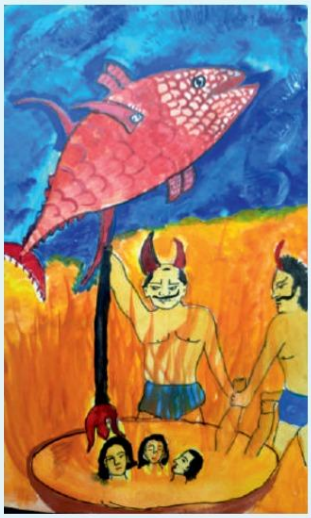

इस प्रकार वह तन्दुलमच्छ, माँस खाने की शक्ति न होने पर भी निरन्तर खोटे भाव करने के कारण मरकर सातवें नरक में नारकी हुआ।''

आचार्य कुन्दकुन्द देव भावपाहुड में कहते हैं :-

मच्छो वि सालिसित्थो, असुद्ध भावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं, भावह जिणभावणं णिच्च।।

अर्थात् अशुद्धभाव के कारण सालिसित्थ मच्छ (तन्दुलमत्स्य) महानरक (सातवें नरक) गया। ऐसा जानकर आत्मा को जिनभावना अर्थात् निज-शुद्धात्म-भावना सदा भानी चाहिए। यह जिनवर का अभिप्राय है।

यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि राजा ने कभी भी माँस-भक्षण नहीं किया और वह मरकर तन्दुलमच्छ हुआ। तन्दुलमच्छ के भव में भी उसने किसी जीव-जन्तु को नहीं खाया, परन्तु मात्र खाने का भाव किया, इसलिए वह मरकर सातवें नरक का नारकी हुआ।

दूसरी ओर रसोइये ने तो राजा की आज्ञा का पालन ही किया था, परन्तु महामच्छ हुआ, तिर्यंचगति में गया।

आखिर ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि भले ही क्रिया नहीं हुई, परन्तु फल तो अपने भावों का ही मिलता है। पहले राजा और रसोइये ने छिपकर पाप कार्य करने का भाव किया अर्थात् मायाचारी की, अतः तिर्यंचगति में गये। पश्चात् राजा ने तन्दुलमत्स्य की पर्याय में निरन्तर खोटे परिणाम किये, अतः सातवें नरक में नारकी हुआ।

अतः हमें निरन्तर अपने परिणामों की सँभाल करना चाहिए। विचार करना चाहिए कि 'इन भावों का फल क्या होगा ?' तथा जब निज और पर द्रव्य के बीच अत्यन्ताभाव है और हम अपने स्वचतुष्टय से निकलकर पर में प्रवेश कर ही नहीं सकते तो उसमें मैं और मेरा के विकल्प तथा उसे करने-भोगने के निरर्थक व दुःखद विकल्प-हमें शीघ्र ही त्याग देना चाहिए। अपने उपयोग को निरन्तर आत्महितकारी कार्यों में ही लगाना चाहिए। जिनभावना और निज-शुद्धात्मभावना ही भाना चाहिए। यही खोटी भावनाओं से बचने का एकमात्र उपाय भी है।

आधार :- पाहुड़ दोहा, दोहा क्रमांक-6 का भावार्थ

5 विषयासक्ति का फल : एक कौआ

एक था कौआ। एक दिन उसे बहुत जोर से भूख लगी। वह भोजन की तलाश में यहाँ-वहाँ भटकने लगा। भटकते-भटकते वह नदी के किनारे पहुँच गया। वहाँ मरे हुए हाथी का कंकाल पड़ा हुआ था। कौआ अपनी भूख मिटाने के लिए कंकाल के अन्दर माँस ढूँढ़ने लगा। आखिर उसे कंकाल के अंदरूनी भाग में माँस लगा मिल ही गया। वह उस पर टूट पड़ा तथा उसे खाने में मग्न हो गया।

कुछ समय बाद नदी में एक तेज लहर उठी। वह किनारे पर पड़े हुए हाथी के कंकाल को बहाकर ले गयी। हाथी का कंकाल (हड्डियों का ढाँचा) नदी में बहते-बहते समुद्र में पहुँच गया, परन्तु कौआ तो खाने में ही मस्त रहा। उसे कुछ खबर ही न पड़ी।

वह कंकाल समुद्र के बीचों-बीच पहुँच गया। कौआ तो अपनी चोंच मार-मार कर माँस को नोंच-नोंच कर खाने में ही आसक्त था। उसका पेट तो भर गया, परन्तु खाने की लालसा समाप्त नहीं हुई। तभी अचानक उसके मन में अन्यत्र जाने की इच्छा उत्पन्न हुई। अतः वह कंकाल से बाहर निकला। उसने देखा कि चारों ओर पानी ही पानी है। दूर-दूर तक कोई ठिकाना दिखायी नहीं दिया। उसने हिम्मत करके किसी दिशा में उड़ने की कोशिश की। उसे उम्मीद थी कि वह समुद्र के किनारे पहुँच ही जायेगा, परन्तु वह सफल न हुआ। वह उड़ते-उड़ते थक गया। अब न तो वह किनारे पहुँचा और न ही हाथी के कंकाल पर वापस लौट सका। अन्ततः वह समुद्र में गिर पड़ा और उसमें ही डूबकर मर गया।

देखो, कौए की तरह यह जीव भी जीवनभर विषयसुख की तलाश में यहाँ-वहाँ भटकता फिरता है। विषयसामग्री मिलने पर उनको भोगने में अति आसक्त हो जाता है। विषय-भोगों में सुख खोजते-खोजते अपना बहुमूल्य जीवन खो देता है। जब मृत्यु का समय आ जाता है, तब कोई उपाय काम नहीं आता। अन्ततः मृत्यु की गोद में सोना ही पड़ता है। यदि किसी को मरते समय आत्मकल्याण की भावना जाग भी उठती है तो फिर अवसर चले जाने पर कोई लाभ नहीं होता। मात्र पश्चात्ताप ही हाथ लगता है।

अतः हे जीव ! यदि मृत्यु का महोत्सव मनाना चाहते हो तो सारा जीवन आत्महित में लगा दो। अन्यथा जीवन बीत जाने पर, मौत की घड़ी आ जाने पर कोई उपाय काम आनेवाला नहीं है।

अतः सच ही कहा है :-

'देख रहे जो आँख से, वह सब होगा नाश।
अविनाशी निजरूप लख, जो है तेरे पास॥'

('उपर्युक्त कथा 'जम्बूस्वामी चरित्र' में जम्बूस्वामी के द्वारा अपनी धर्मपत्नियों को सुनायी गयी। परिणामस्वरूप उन्हें भी वैराग्य उत्पन्न हो गया, माता-पिता और विद्युत्चर चोर भी संसार से विरक्त हो गये और प्रातःकाल जम्बूस्वामी के साथ सभी ने जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली।)

आधार :- पं. जयचन्द छाबड़ा कृत जम्बूस्वामी चरित्र

6 प्राप्त पर्याय में तन्मयता : राजा बना कीड़ा

एक था राजा। उसका नाम था मायादास। उसकी रानी थी कामाक्षी । राजा मायादास रानी कामाक्षी के काम-बाणों से निरन्तर आहत रहता था । वह राज्य संचालन, विषय-भोग, परिग्रह-संग्रह में ही सतत् लीन रहता था । कभी धर्म-कार्य भी करता, जिनेन्द्र-वंदना करता, साधु-समागम करता, धर्मोपदेश सुनता, परन्तु वहाँ भी सांसारिक जीवन के बारे में ही चिंतित रहता था । राजा-रानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम था विनयकुमार। वह अपने पिता की आज्ञा का सदा पालन करता था।

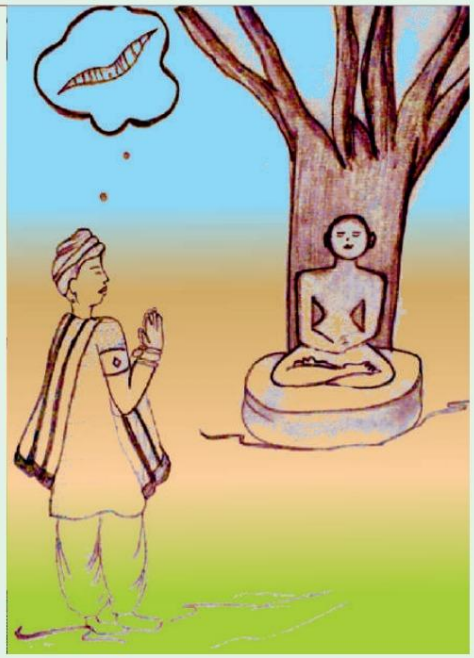

एक दिन उनके नगर में अवधिज्ञानरूपी नेत्रों से सुशोभित एक मुनिराज पधारे। समाचार मिलते ही राजा मुनिराज के चरणों में उपस्थित हुआ। राजा ने मुनिराज की तीन परिक्रमाएँ दीं, उन्हें नमस्कार किया, उनका धर्मोपदेश सुना और अन्त में पूछा – ''हे मुनिवर ! मेरा यह मुनष्य जीवन कितना बचा है ?'' मुनिराज ने उत्तर दिया – ''तीन दिन।'' आश्चर्यचकित होकर राजा ने पूछा – ''मैं मरकर कौन-सी गति में जाऊँगा ?''मुनिराज ने कहा – ''तिर्यंचगति में।'' राजा ने पूछा– ''कहाँ जन्म लूँगा और किस पर्याय में ? ''मुनिराज ने समाधान करते हुए कहा –

'' अपनी ही विष्टा (टट्टी) में, लाल रंग का कीड़ा बनोगे।'' राजा ने कारण जानने की जिज्ञासा प्रकट की तो मुनिराज ने कहा,''हे राजन् ! यह जीव जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।'' तुमने धर्म क्रियाएँ तो कीं, परन्तु धर्म-परिणाम नहीं किये। धर्म क्रियाएँ करते समय भी तुम्हारे मन में भोगाभिलाषा बनी रही। अतः इस मायाचारी के कारण तुम्हें तिर्यंचगति का बंध हुआ है। इस प्रकार तुमने अपना मायादास नाम सार्थक कर लिया है। राजा ने विनयपूर्वक पूछा – ''अब क्या आज्ञा है ?'' मुनिराज धर्मध्यान करने का उपदेश देकर मौन होकर सामायिक में लीन हो गये।

राजा को शीघ्र ही मृत्यु के लक्षण भी दिखायी देने लगे। उसे परभव की चिन्ता सताने लगी। उसने परभव को सुधारने के लिए धर्मध्यान में तो अपना उपयोग नहीं लगाया, परन्तु आगामी भव में 'कीड़े की पर्याय' से मुक्त होने का उपाय सोचने लगा। सच ही कहा है – 'जैसी गति, वैसी मति।'

राजा ने अपने आज्ञाकारी पुत्र को बुलाया और उसे मुनिराज की भविष्यवाणी के विषय में बता दिया। पुत्र अपने पिता की मृत्यु एवं घृणित-पर्याय में जन्म की बात सुनकर बहुत दुखी हुआ। राजा ने अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके उसे आज्ञा दी - ''हे पुत्र! मेरी मृत्यु तो निश्चित है और विष्टा में कीड़ा बनना भी पक्का है, क्योंकि जैन मुनि अन्यथावादी नहीं होते। अब मैं चाहता हूँ कि जब मैं विष्टा में लाल रंग का कीड़ा बनूँ तो तुम मुझे मारकर उस निंदनीय पर्याय से मुक्त कर देना, मैं ऐसी गंदगी में नहीं रह पाऊँगा। ''तब पुत्र ने आज्ञा स्वीकार कर दृढ़तापूर्वक कहा ''ऐसा ही होगा पिताजी।''

तीन दिन समाप्त होते ही राजा की मृत्यु हो गयी और वह गटर में लाल रंग का कीड़ा बन गया। पुत्र ने उसे तत्काल पहचान लिया और जैसे ही वह गटर में ऊपर की ओर आता, पुत्र उसे मारने के लिए लाठी से प्रहार करता, परन्तु वह तो अपने प्राण बचाने के लिए नीचे चला जाता। यह प्रसास अनेक बार दुहराने के बाद भी जब वह अपने पिता को कीड़े

की पर्याय से मुक्त नहीं कर पाया तो वह भी मुनिराज के पास पहुँचा। उसने मुनिराज के सामने सारी समस्या प्रकट कर दी और समाधान के लिए निवेदन किया तो मुनिराज कहने लगे - ''हे भव्य! यह जीव जिस पर्याय में जन्म लेता है, उसी पर्याय में तन्मय हो जाता है। वह स्वयं को उस पर्यायरूप ही मानने लगता है। अतः व्यर्थ प्रयत्न मत करो, यदि प्रयत्न करना ही है तो ऐसा प्रयत्न करो कि तुम्हारी वैसी दशा न हो। तुम धर्म भावना में ही निरन्तर अपना उपयोग लगाओ। संसार, शरीर और भोगों का स्वरूप समझकर उससे विरक्त होकर मोक्षमार्ग में लग जाओ।''

मुनिराज के उपदेश से प्रेरित होकर राजपुत्र ने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली और आत्मसाधना में ही अपनी शक्ति को सार्थक करने लगा।

आधार : आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण

7 राजा सत्यन्धर की विषयासक्ति और विरक्ति

हेमांगद नाम का देश था। उसकी राजधानी थी राजपुरी। उस नगरी में सच बोलने वाले , वृद्धों की सेवा करने वाले, विशेष कार्यों को जानने वाले, निरन्तर उद्योग करने वाले, हठ न करने वाले 'सत्यन्धर' नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी पटरानी अत्यंत रूपवती, विवेकशील, पतिव्रता आदि अनेक गुणों के द्वारा सम्पूर्ण स्त्रियों को जीतने से 'विजया' नाम से प्रसिद्ध थी। राजा की अनेक रानियाँ थीं, परन्तु उन्हें विजया रानी ही सर्वाधिक प्रिय थी।

राजा का राज्य निष्कंटक था और वे सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे, परन्तु वे अपनी रानी के साथ रमण करने में इतने ज्यादा लीन रहते थे कि उन्हें राज्य–व्यवस्थाएँ देखने का भी ध्यान न रहता। सच ही कहा है — कामासक्त मनुष्य का कौन–सा गुण नष्ट नहीं हो जाता है ? अर्थात् उसके सारे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। उसमें विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता, सत्यनिष्ठा आदि कोई भी गुण नहीं रहते। कामासक्त मनुष्य दूसरों की सेवा करने से उत्पन्न दीनता, चुगली, निंदा और तिरस्कार से भी नहीं डरते हैं। वे भोजन, दान, विवेक, सम्पत्ति और पूज्यता को भी छोड़ देते हैं; और तो क्या अपने जीवन को भी छोड़ देते हैं ?

एक दिन राजा सत्यन्धर ने अपना राज्याधिकार 'काष्ठांगार' नामक मंत्री को सौंपने का विचार किया, क्योंकि विषयासक्त जीवों को स्वयं का आचरण और विचार तब तक ही अच्छा लगता है, जब तक वे अपने विवेक का उपयोग नहीं करते। राजा का विचार सुनकर अन्य मंत्रियों ने राजा को स्वयं राज्य संचालन करने हेतु समझाया, परन्तु राजा ने मोह के वशीभूत होकर काष्ठांगार को ही राज्य के प्रमुख पद पर बिठा दिया। सच है, बुद्धि कर्म के अनुसार होती है। इस प्रकार राजा भोगों में आसक्त होकर अपना समय बिताने लगे।

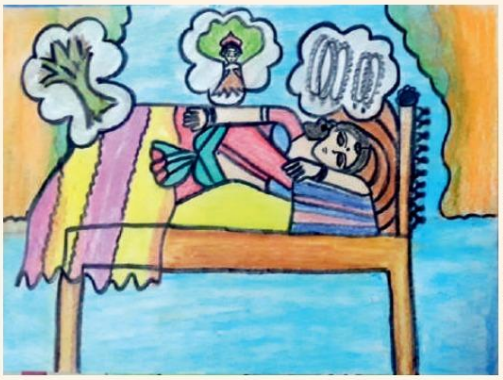

एक दिन रानी विजया ने सोते हुए रात्रि के अंतिम प्रहर में कुछ स्वप्न देखे। प्रातः काल नित्यकर्म से निवृत्त होकर रानी ने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा। राजा तीनों स्वप्नों को सुनकर और फल जानकर क्रम–भंग करके दुःखित मन से उन स्वप्नों का फल बताने लगे कि ' हे देवी ! तुम्हारे द्वारा स्वप्न में देखा हुआ मुकुट सहित छोटा अशोक वृक्ष बताता है कि तुम्हारा पुण्यशाली पुत्र होगा और स्वप्न में देखी हुई आठ मालाएँ पुत्र की आठ स्त्रियाँ होंगी – इसका संकेत करती हैं। रानी प्रथम स्वप्न का फल पूछते हुए बोली – ' हे आर्यपुत्र ! इससे पहले दिखा और फिर नष्ट हो गया – ऐसे अशोक वृक्ष का क्या फल है ? तब राजा ने उत्तर दिया – 'हे देवी ! यदि ऐसा पूछती हो तो यह स्वप्न भी इसी विषय में कुछ कहता है – ऐसा समझो।'

स्वामी का वाक्य सुनकर पटरानी उनके मुरझाये हुए मुख को देखकर पृथ्वी पर गिरकर मूर्छित हो गयी। सच ही है – मुख मन के भावों को कह ही देता है। रानी के मोह से मोहित होने पर भी राजा उसको सचेत करते हैं , शान्तिपूर्वक समझाते हैं, धैर्य नहीं छोड़ते, क्योंकि अकस्मात् अनिष्ट संयोगजन्य पीड़ा एवं दैवी संकट आने पर महापुरुषों का पुरुषार्थ जागृत ही रहता है। वे रानी से कहने लगे कि '' हे देवी ! स्वप्न देखने से क्यों मुझको तत्काल मरा हुआ समझती हो ? विपत्तियों को दूर करने के लिए मनुष्यों का शोक क्या उचित है ? वास्तव में समस्त आपत्तियों का नाशक एकमात्र धर्म ही है। जिस तरह दीपकों से प्रकाशित स्थान पर अंधकार का प्रवेश ही नहीं होता है, उसी तरह धर्मरूपी दीपक के रहते हुए विपत्तिरूपी अंधकार नहीं रह सकता।

स्वामी के वचनों से रानी संतोष को प्राप्त हुई तथा पूर्ववत् अपने पति के साथ रमण करने लगी। निश्चय से अज्ञानियों को दुःख के समय ही दुःख की चिन्ता होती है। स्वप्न से सचेत किया हुआ और फिर अचेत, इस राजा को

ज्ञान कराने के लिए ही मानो रानी विजया ने गर्भ के भार को धारण किया। राजा गर्भ के लक्षणों सहित रानी को देखकर खोटे स्वप्नों के फल के निश्चय से पश्चात्ताप करने लगे कि अभाग्य से मैंने मंत्रियों के वचनों का उल्लंघन किया। निश्चय से विवेक-रहित पुरुष संकट आने पर ही सज्जनों के वचनों का विश्वास करते हैं, परन्तु असमय में की गयी इच्छा इच्छित कार्य को पूर्ण नहीं करती है। जैसे फल लगने का समय आ जाने पर क्या फूलों का ढेर इकट्ठा किया जा सकता है ?

दुःख से पीड़ित राजा ने वंश की रक्षा के लिए मयूराकृति यंत्र बनाया। फिर मनोवांछित क्रीड़ा का आनन्द लेने हेतु गर्भवती रानी को राजोद्यान में ले गये और वहाँ रानी की इच्छानुसार अनेक क्रीड़ाएँ करने के पश्चात् रानी को नवनिर्मित मयूराकृति यंत्र में बिठाकर आकाश में उड़ने का अभ्यास कराने लगे। तभी वहाँ कृतघ्न, राजघातक एवं राज्यसत्ता का निरंकुश इच्छुक काष्ठांगार कुटिल विचार करने लगा। उसने युक्ति बनाकर अन्य मंत्रियों एवं सभासदों को अपने पक्ष में लेना चाहा। 'धर्मदत्त' नामक मंत्री ने देशद्रोह, राजद्रोह का अनर्थकारी फल बताकर काष्ठांगार को रोकना चाहा, किन्तु वह नहीं समझा। 'मथन' नामक साले द्वारा समर्थन मिलने पर पापबुद्धि वाले काष्ठांगार ने राजा सत्यन्धर को मारने के लिए सेना भेज दी। जैसे ही राजा को द्वारपाल द्वारा कृतघ्न काष्ठांगार के राजद्रोह का समाचार मिला, वे भी क्रोधित होकर युद्ध के लिए तैयार हो गये। यह देखकर रानी विजया मूर्छित हो गयी। राजा ने उन्हें सचेतकर तत्त्व का उपदेश दिया, पुण्य-पाप का फल बताया तथा संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान कराके उन्हें मयूराकृति यंत्र में बिठाकर वंशरक्षार्थ आकाश मार्ग से अन्यत्र भेज दिया और स्वयं ने मोहवश राज्य-रक्षा हेतु युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया।

योद्धा राजा सत्यंधर बहुत कालपर्यन्त युद्ध करके 'निष्प्रयोजन प्राणियों की हिंसा से क्या लाभ है ?' ऐसा विचार करके युद्ध से विरक्त हो गये। वे विचार करने लगे कि 'हे आत्मन् ! पंचेन्द्रियों के विषयों में अति आसक्त रहकर अनेक तरह के दोष तुमने स्वयं किये हैं, जिनका परिणाम प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है, अतएव विष के समान पंचेन्द्रियों के विषयों को अब तो छोड़ो। हे आत्मन् ! इन सब पूर्वजन्म में भोगे हुए भोगों को तू भोगता है; इसलिए उच्छिष्ट राज्य को त्याग दे। इन्द्रियों के विषय बहुत काल तक स्थिर रहकर भी अवश्य नाश को प्राप्त हो जाते हैं, अतः स्वयं ही उन्हें छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने पर आत्मा कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत करने से संसार की वृद्धि ही होती है।

इस प्रकार विचारकर राजा सत्यंधर उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुए और युद्धभूमि में ही योग्य रीति से समस्त परिग्रह का त्यागकर उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की और उसी क्षण शरीर का त्यागकर स्वर्ग में देवपर्यायजन्य ऐश्वर्य को प्राप्त किया।

ओहो हो ! सत्य ही कहा है कि स्त्रीसेवन से उत्पन्न सुख क्या है ? कैसा है ? कितना है ? कहाँ है ? - ऐसा विचार करने पर दुस्सह हो जाता है। वह सुख निश्चय से बिना विचार के ही सुंदर प्रतीत होता है। अतः हमें निरंतर ऐसा विचार करना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? मुझमें कौन-कौन से गुण हैं ? मैं कहाँ से आया हूँ ? मुझे क्या प्राप्त करने योग्य है ? उसमें क्या निमित्त है या उसका क्या उपाय है ? यदि इसप्रकार के विचार प्रतिदिन नहीं हों तो निश्चय से बुद्धि अयोग्य स्थान में प्रवृत्त हो जाती है।

अतः हम भी संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर निज चैतन्य से उत्पन्न सुखामृत में अनुरक्त हों।

आधार :- आचार्य वादीभसिंह रचित क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धर चरित्र)

8 गुरु आर्यनन्दी और शिष्य जीवन्धरकुमार

विद्याधरों की एक नगरी थी। वहाँ का राजा था लोकपाल। वह राजा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता हुआ अपना समय व्यतीत कर रहा था। एक दिन राजा लोकपाल अपने महल की छत पर खड़े-खड़े आसमान में बादलों की सुन्दर रचनाओं को देख रहे थे कि वह मेघराशि क्षणभर में नष्ट हो गयी। यह देख राजा विचार करने लगे कि यह कैसी मेघराशि है ? यह तो धनादि से उन्मत्त मनुष्यों के ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का बोध कराने वाली है, जो देखने वालों के सामने देखते-ही-देखते नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार विचार करते हुए राजा लोकपाल को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो गया। वास्तव में भव्य जीवों को काललब्धि आ जाने पर सांसारिक विषयों के प्रति उदासीनता अतिशयता से ही प्रकट हो जाती है। राजा ने अपना राज्य अपने सुपुत्र को सौंप दिया और जिसमें अपने शरीर के प्रति भी हेय बुद्धि हो जाती है – ऐसी दिगम्बर जैन मुनि दीक्षा धारण कर ली।

मुनि दीक्षा लेकर राजा लोकपाल आर्यनन्दी मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। खेद है, तप को तपते हुए उन तपस्वी मुनिराज को 'भस्मक' नाम का ऐसा महारोग उत्पन्न हुआ, जो खाये हुए अत्यन्त पौष्टिक पदार्थों को भी क्षणमात्र में भस्म कर देता है। निश्चय से थोड़ी-सी तपस्या के द्वारा खोटा कर्म निवारण करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। क्या अग्नि की जरा-सी चिंगारी से गीला ईंधन जल सकता है ? परिणामतः जैसे पहले लोकपाल राजा ने राज्य का त्याग कर दिया था, वैसे ही अब उन्होंने (आर्यनन्दी मुनिराज ने) भस्मक-व्याधि की बाधा को सहन करने की सामर्थ्य न होने से मुनि दीक्षा (तप) का त्याग कर दिया। निश्चय से 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' अर्थात् कल्याणकारी कार्यों में बहुत विघ्न आते हैं – यह कहावत अभी की नहीं है, अपितु पहले से चली आ रही है।

जिस प्रकार कोई व्याध (बहेलिया) झाड़ियों में छिपकर पक्षियों को पकड़ने का कार्य किया करता है, उसी प्रकार आर्यनन्दी (मुनि) छिप-छिपकर स्वेच्छाचार अर्थात् अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगा और झूठे तप से आच्छादित होते हुए पाखण्ड तप के द्वारा इच्छानुसार इधर-उधर घूमने लगा। आश्चर्य है ! निश्चय से जैनधर्म के अनुसार तपश्चरण स्वच्छन्द आचरण का विरोधी है। अतः उन्होंने मुनि के वेश को छोड़कर रोग-निवारण के लिए पाखण्ड वेश धारण कर लिया।

यहाँ-वहाँ भटकते हुए वह भिक्षुक भूख से पीड़ित होते हुए एक दिन राजपुरी नगरी के सेठ गन्धोत्कट के घर पहुँच गया। जैसे ही वह (आर्यनन्दी) सेठ के घर के आँगन में पहुँचा, उसे बालक जीवन्धरकुमार ने देखा और देखते ही उसके हाव-भाव से जान लिया कि यह भिक्षुक अत्यधिक भूखा है। यह रोग से पीड़ित होने पर भी धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम वैद्य के समान है। यह चारित्र से भ्रष्ट होने पर भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित है। वास्तव में धार्मिक पुरुषों के रक्षक धार्मिक पुरुष ही होते हैं, दूसरे नहीं। और दुर्जन पुरुष सर्प-नेवले के सदृश स्वभाव से सज्जन पुरुषों के शत्रु होते हैं।

भोजन करने के लिए प्रवृत्त बालक जीवन्धरकुमार ने भोजन को उद्यत भिक्षुक को भोजन कराने के लिए रसोइये को आदेशित किया और रसोइये ने भिक्षुक को भोजन कराना प्रारम्भ कर दिया । परन्तु रसोई में जितना भोजन था, उसे खा चुकने पर भी भिक्षुक का पेट नहीं भरा, वह भूखा का भूखा ही रहा । अहो ! आश्चर्य है कि पाप का भयंकरपना भी कैसा विचित्र है ? आशारूपी समुद्र किससे पूर्ण हो सकता है ? तब भोजन नहीं करते हुए और आश्चर्य से बैठे हुए जीवन्धरकुमार ने करुणा से अथवा उसके पुण्य-उदय से अपने हाथ में रखे हुए ग्रास (कौर) को हर्ष से उसे दे दिया। जैसे संतोष से आशारूपी समुद्र पूर्ण हो जाता है, उसीतरह उस तपस्वी का पेट उस ग्रास को चखने मात्र से क्षणभर में पूरा भर गया। अहो ! पुण्य की भी कैसी विचित्र सामर्थ्य है।

उस तपस्वी ने भी बहुत काल के पश्चात् रोगनिवृत्ति को प्राप्त करके ऐसा विचार किया कि इस महा-उपकारी का मैं क्या उपकार करूँ ? तब भिक्षुक ने निश्चय किया कि मुझे इस बालक को सर्वोत्कृष्ट फलदाता ज्ञान का दान ही देना चाहिए - ऐसा निर्णय करके उन्होंने चिरंजीवी जीवन्धरकुमार को पढ़ा-लिखाकर सर्वोत्कृष्ट विद्वान् बना दिया। निश्चय से ज्ञानदान की अचिन्त्य महिमा है। किसी को भी विद्यादान देने से वह विद्या घटती नहीं है, अपितु दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। उसे चोर नहीं लूट सकते, बन्धु-बान्धव उसमें से हिस्सा नहीं ले सकते, प्रत्युत वह विद्या अपने इच्छित कार्यों को पूर्ण करती ही रहती है। विद्वत्ता से मनुष्य को कुलीनता, धन-सम्पत्ति, सज्जनता और सज्जन पुरुषों द्वारा सम्मान मिलता ही है। बहुत कहने से क्या ? विद्वान् सर्वत्र पूजे जाते हैं। जैसे दूध शरीर को पुष्ट करने वाला होने के साथ-साथ औषधि का भी काम करता है, वैसे ही विद्वत्ता या पाण्डित्य जीवों के लिए जीवन में तो प्रशंसनीय होता ही है, साथ ही मोक्ष का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

जीवन्धरकुमार को गुरु के प्रति सेवा, विनय और चतुराई से विद्याएँ वैसे ही शीघ्रता से आ गयी जैसे कोई भूली हुई वस्तु याद आ जाती है। निश्चय से गुरु का प्रेम सम्पूर्ण इच्छाओं को पूरा करने वाला होता है। जब जीवन्धरकुमार के शिक्षा-गुरु आर्यनन्दी को यह निश्चय हो गया कि जीवन्धरकुमार सर्वोत्कृष्ट विद्वान् बन गये हैं, तब उन्हें अत्यन्त आनन्द की प्राप्ति हुई। सो ठीक ही है - जब मनुष्यों को अपना किया हुआ बुरा कार्य भी सफल होने पर अच्छा लगता है तो फिर अच्छा काम सफल होने पर अच्छा क्यों नहीं लगेगा ? उसमें भी विद्यादान से बढ़कर और दूसरा कौन-सा काम अच्छा है ? अर्थात् ज्ञानदान ही सर्वोत्कृष्ट दान है।

एक दिन प्रसन्नचित्त गुरु आर्यनन्दी ने एकान्त में अपने शिष्य जीवन्धरकुमार को उपर्युक्त सम्पूर्ण कथा सुनायी। तब अपने गुरु के हृदय की पवित्रता जानकर जीवन्धरकुमार और अधिक प्रसन्न हुए एवं अपने गुरु से और अधिक प्रीति को प्राप्त हुए। निश्चय ही प्राप्त हुई मणि की उत्तमता के निर्णय से विशेष हर्ष होता ही है।

जब गुरु-भक्ति परम्परा से मुक्ति प्रदान करने में सक्षम है तो अन्य लौकिक कार्यों की सिद्धि तो सहज

साध्य है ही। इसके विपरीत गुरु से द्रोह करने वाले, उनके उपकारों को भूलने वाले के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं । उन लोगों की विद्या भी बिजली के समान क्षणस्थायी होती है। सो ठीक ही है – जड़रहित वृक्ष की स्थिति कैसे हो सकती है ? तथा गुरुद्रोही का कहीं पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुरुद्रोह से नहीं डरने वाले पुरुष को दूसरों के साथ द्रोह करने से कैसे भय हो सकता है ? इसप्रकार जीवन्धरकुमार अपने गुरु की भक्ति में और अधिक तल्लीन हो गये।

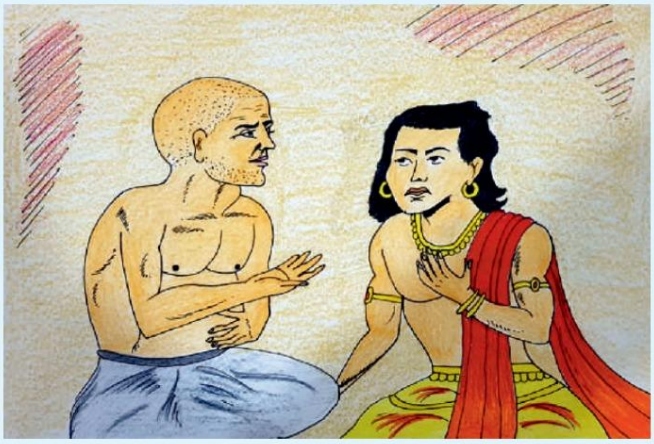

गुरु आर्यनन्दी ने अपने शिष्य जीवन्धरकुमार को सर्व विद्याओं में कुशल करने के पश्चात् उन्हें विधिपूर्वक श्रावकाचार का उपदेश दिया। अन्त में उन्होंने जीवन्धरकुमार को बताया कि वह एक राजपुत्र है, उसके पिता राजा सत्यन्धर थे, उन्हें उनके मंत्री काष्ठांगार ने धोखा दिया और उनको मारकर स्वयं राजा बन गया – इत्यादि पूर्वघटित घटनाओं को सुनाया। यह सुनकर जीवन्धरकुमार अत्यन्त क्रोधित होकर काष्ठांगार का वध करने के लिए तत्पर हो गये। खेद है ! अपनी आत्मा का भी नाश करते हुए क्रोधीपुरुष क्या–क्या कर्म नहीं कर डालते ? तब गुरु आर्यनन्दी ने कहा – हे शिष्य ! काष्ठांगार को एक वर्ष और क्षमा करो। यह ही मेरे पढ़ाने की गुरुदक्षिणा समझो। इस प्रकार अलौकिक गुरुदक्षिणा माँगी। तब गुरु की आज्ञा पाकर जीवन्धरकुमार शान्त हो गये। वास्तव में, कौन ज्ञानवान पुरुष गुरु के आदेश का उल्लंघन करेगा ? गुरु के वचन तो खोटे मार्ग का नाश करने वाले होते हैं। उन्होंने कहा – 'हे श्रेष्ठ पुत्र ! तुम मोह से विवश होकर क्यों क्रोध करते हो ? निश्चय से विकार का कारण मिलने पर भी विकारी न होना ही धीरता है। यदि अपकार करने वाले पर तुम्हारा क्रोध है, तो फिर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और जीवन का नाश करने वाले क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करते हो ? क्रोधरूपी अग्नि तो पहले क्रोध करने वाले को भस्म करती है तथा यदि हेय व उपादेय का ज्ञान नहीं है तो शास्त्रसम्बन्धी परिश्रम करना व्यर्थ है, क्योंकि चावलों के नहीं निकलने पर धान्य को कूटने से क्या फायदा ?'

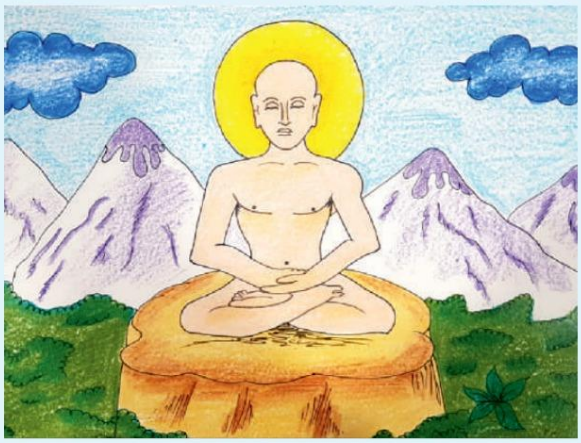

इस प्रकार उन जीवन्धरकुमार को उपदेशरूप आशीर्वाद देकर और विश्वास दिलाकर वे गुरु आर्यनन्दी पूर्व की भाँति कठोर तप करने के लिए वन में चले गये । निश्चय से इस संसार में प्राणों के निकलते समय मृत्यु को रोकने का कोई उपाय नहीं है। दीक्षा लेकर गुरु आर्यनन्दी ने तपश्चरण की सामर्थ्य से शाश्वत आनन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त किया। निश्चय से निर्विघ्न सामग्री नियम से कार्य सिद्ध करने वाली होती है।

आधार :– आचार्य वादीभसिंह रचित क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धरचरित्र)

9 महामंत्र का महाप्रभाव : कुत्ता बना देव

वसंत ऋतु थी। वातावरण बड़ा ही सुहावना था। आम्र–वृक्षों में मंजरियाँ लद गयीं थीं। उनको खाकर कोयल कुहू–कुहू की मधुर आवाज करने लगी थी। मनुष्यों के मन में मादकता उत्पन्न होने लगी थी। नगरवासियों के मन में जलक्रीड़ा का उत्साह जागने लगा। जलक्रीड़ा अर्थात् फागोत्सव हेतु सभी नदी के किनारे पहुँचने लगे। निश्चय से, अनुराग से अंधे पुरुषों के लिए वसन्त अग्नि को प्रज्वलित करने में पवन की तरह मित्र होता है। जलक्रीड़ा का समाचार सुनकर जीवन्धर कुमार भी अपने मित्रों को साथ लेकर जलक्रीड़ाएँ करने और देखने के उद्देश्य से नदी के निकट गये। निश्चय से संसारी लोग हमेशा नवीन वस्तु से प्रेम करने वाले होते हैं।

वहाँ जीवन्धरकुमार ने एक कुत्ते को बड़ी ही दयनीय दशा में देखा। उसे हवन करने वाले याज्ञिकों ने उनकी हवन सामग्री जूठी कर देने के कारण मार–मारकर अधमरा कर दिया था। वास्तव में धर्म से विमुख कठोर हृदयवाले मनुष्य क्या–क्या खोटे कर्म नहीं करते हैं अर्थात् वे सब प्रकार के बुरे कर्म करते हैं। खेद है ! पापी पुरुष बिना कारण के भी जीवों को मार डालते हैं, फिर झूठा कारण मिल जाये और वहाँ कोई निवारण करनेवाला न हो तो कहना ही क्या है ? वे अधिकाधिक हिंसा के कार्य करते ही रहते हैं।

उस कुत्ते की पीड़ा को देखकर जीवन्धरकुमार अत्यन्त खेद को प्राप्त हुए। निश्चय से दूसरे की पीड़ा को अपनी पीड़ा के समान अनुभव करना ही करुणा है। उन्होंने कुत्ते को जीवित रखने के लिए अनेक उपाय किये, परन्तु सभी उपाय व्यर्थ ही साबित हुए। सच है, समय निकल जाने पर किया हुआ बड़ा प्रयत्न भी फलदायी नहीं होता। उन्होंने उसका परभव सुधारने के उद्देश्य से उसे णमोकार महामंत्र का उपदेश दिया, उसे संबोधित किया। कारण कि बहुत कहने से क्या ? यह णमोकार महामंत्र मोक्षमार्ग पर चलने वाले पथिकों के लिए पाथेय (स्वल्पाहार/कलेवा/नाश्ता) है। उन्हें मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने में सहायक है, प्रेरक है या पुरुषार्थ बढ़ाने वाला है।

आश्चर्य है ! वह कुत्ते का जीव मंत्र के प्रभाव से यक्ष जाति के देवों का स्वामी यक्षेन्द्र हुआ। सच में, अत्यन्त काला लोहा भी रस–संबंध से स्वर्णरूप हो ही जाता है। वास्तव में, मरण के समय प्राप्त जिस मंत्र से कुत्ता देव हो गया, उस मंत्र का जाप किस बुद्धिमान के द्वारा करने योग्य नहीं है ? अर्थात् सभी के द्वारा करने योग्य है। सभी विवेकशील जीवों को णमोकार महामंत्र का जाप, ध्यान, स्मरण सदैव करना चाहिए।

वह कुत्ते का जीव देव पर्याय में उत्पन्न होकर कृतज्ञता के कारण उसी समय जीवन्धरकुमार के पास आ गया। सच में, देवों के शरीर की पूर्णता अन्तर्मुहूर्त में ही हो जाती है। शुद्धवाणी बोलने वाला और आनंद से परिपूर्ण वह यक्षेन्द्र जीवन्धरकुमार को देखकर, उनका स्तवन करने लगा, क्योंकि विवेकशील पुरुषों को अपने ऊपर किया गया

उपकार सहज ही स्मरण में आता है। सच ही कहा है, उपकार का स्मरण किसे नहीं होता, यदि वह अचेतन न हो?

यक्षेन्द्र ने जीवन्धरकुमार का स्तवन किया, उनका उपकार प्रकट किया, णमोकार मंत्र की महिमा गायी–इत्यादि अनेक आश्चर्य उत्पन्न करने वाले कार्य किये, परन्तु मंत्र के माहात्म्य को जानने वाले जीवन्धरकुमार को उस देव को देखकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि जो मंत्र मुक्ति को देनेवाला हो, उससे देव पर्याय प्राप्त होना, बिल्कुल भी कठिन नहीं है। इसमें किसी तरह के आश्चर्य की बात नहीं है।

उस यक्षेन्द्र ने जीवन्धरकुमार से कहा – '' हे महाभाग ! आवश्यकता पड़ने पर आप मुझे सेवा का अवसर अवश्य देना। मैं स्मरणमात्र से ही आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।'' सच ही है, सज्जन पुरुष उपकार करने वाले के प्रति प्रत्युपकार करने की भावना रखते ही हैं।

इसप्रकार जीवन्धरकुमार को आलिंगन करके और बार–बार पूछकर वह कुत्ते का जीव यक्षेन्द्र अपने स्थान पर चला गया।

एक दिन जब दुष्ट काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को बंदी बनाकर राजसभा में उपस्थित करने हेतु अपने सैनिकों को उनके घर भेज दिया, तब वीर जीवन्धरकुमार ने उन्हें क्षणमात्र में ही धूल चटा दी, परन्तु अपने पिता सेठ गंधोत्कट के आदेश से वे काष्ठांगार के समक्ष उपस्थित हुए। उस दुष्ट ने जीवन्धरकुमार को मारने के लिए अपने सैनिकों को आदेश दिया। ऐसे समय में भी जीवन्धरकुमार अत्यन्त शांत भाव से वहीं खड़े रहे, क्योंकि वे अपने पिता की आज्ञा एवं अपने गुरु आर्यनन्दी के समक्ष की गयी (काष्ठांगार को एक वर्ष तक क्षमा करने की) प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। तब वह कुत्ते का जीव यक्षेन्द्र क्षणमात्र में ही जीवन्धरकुमार को वहाँ से सुरक्षित रूप से अपने स्थान पर ले गया। देव ने जीवन्धरकुमार का बहुत सम्मान किया, उनका अभिषेक किया तथा उन्हें महत्त्वपूर्ण तीन मंत्र भी दिये।

इस प्रकार णमोकार महामंत्र इस लोक और परलोक में, लौकिक तथा पारलौकिक कार्य में सर्व प्रकार से उपयोगी है, अतः सभी को निष्काम भावना–पूर्वक सदैव णमोकार महामंत्र का स्मरण और ध्यान अवश्य करना चाहिए तथा णमोकार मंत्र में स्थित पंचपरमेष्ठियों के समान निजात्मा का ध्यानकर मुक्ति का निराकुल अनन्त आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आधार :– आचार्य वादीभसिंह द्वारा रचित क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धरचरित्र)

10 राजा जीवन्धरकुमार का वैराग्य

हेमांगद देश की राजपुरी राजधानी में राजा जीवन्धरकुमार राज्य करते थे। जीवन्धरकुमार तेईसवें कामदेव थे। वे न्याय–नीति पूर्वक राज्य का संचालन करते थे। प्रजा उनके शासन से अत्यन्त संतुष्ट थी। प्रजा का पालन करते हुए बहुत काल एक क्षण के समान बीत गया।

एक बार वसन्त ऋतु का आगमन हुआ। राजा वसन्तोत्सव का आनन्द लेने के लिए एक उपवन में गये। अपनी आठ रानियों के साथ जलक्रीड़ा करते हुए राजा को थकान का अनुभव हुआ। अपनी थकान मिटाने के लिए वे उपवन में विहार करने लगे। वहाँ राजा ने एक अद्‌भुत घटना घटित होते हुए देखी।

एक वृक्ष की ओट में खड़े होकर राजा ने देखा कि एक बंदर ने अपनी प्रिया बंदरी को छोड़कर किसी दूसरे बंदर की बंदरी के साथ सम्भोग (मैथुन) किया। यह देखकर उसकी प्रिया बंदरी उस बंदर से नाराज हो गयी। उस बंदर ने अपनी प्रिया बंदरी को प्रसन्न करने के लिए अनेक उपाय किये। परन्तु वह बंदर अपने प्रयास में सफल नहीं हुआ। उस बंदर ने मायाचारी (कपट) का प्रयोग किया। वह बंदर मरने का नाटक करते हुए जमीन पर लेट गया, बंदरी उसे मरा हुआ समझकर अत्यन्त भयभीत हो गयी और उसकी सेवा करने लगी। बंदरी की खुशामद से प्रसन्न होकर बंदर ने अपनी मायाचारी छोड़ दी। उसने बंदरी को प्रसन्न करने के लिए एक पनस (कटहल) का फल तोड़कर उसे दिया। उसीसमय वहाँ वनमाली आ गया। उसने बंदरी को डर दिखाकर उससे पनस का फल छीन लिया।

यह घटना देखकर विवेकशील एवं विलक्षण बुद्धि के धारक राजा जीवन्धरकुमार को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे विचार करने लगे कि 'यह वनपाल तो मेरे समान है, बंदर काष्ठांगार के स्थान पर है। राज्य पनस (कटहल) के फल के समान है, क्योंकि यह राज्य पहले मेरे पिता राजा सत्यन्धर के पास था। उनका राज्य कपट द्वारा काष्ठांगार ने छीन लिया। अब मैं बलवान हुआ तो काष्ठागांर को मारकर मैंने उस राज्य पर अधिकार कर लिया। कभी मुझसे भी कोई बलवान उत्पन्न हो सकता है और वह मुझसे राज्य छीन सकता है। अतः इस राज्य का मुझे ही त्याग कर देना चाहिए। ऐसे वैराग्यमय विचार पुनः पुनः राजा के मन में उत्पन्न होने लगे।

राजा जीवन्धरकुमार अपने वैराग्य का पोषण करने के लिए बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे। वे विचार करने लगे कि 'हे आत्मन! संसार, शरीर और भोग अनित्य हैं, केवल आत्मा एवं आत्मा से उत्पन्न मोक्षसुख ही शाश्वत है। सुख–प्राप्ति के लिए केवल धर्म ही शरण है, संसार असार है, केवल आत्मानुभूति ही सुखरूप है। अपने कर्मों का फल जीव अकेला ही भोगता है, कोई साथ नहीं देता, यदि कोई सदा साथ रहने वाला है तो वह है धर्म। देहादि पदार्थ आत्मा से अन्य ही हैं। शरीर इतना अपवित्र है कि इसके संयोग में आने वाली वस्तुएँ भी अपवित्र हो

जाती हैं, अतः उससे विरक्त हो जाना चाहिए। परन्तु यह नश्वर शरीर मोक्षसुख प्राप्त करने में निमित्त कारण है, अतः शरीर छूटने से पहले अशरीरी होने के लिए उसका उपयोग करना चाहिए। आस्रव दुःखरूप है, अतः उसे छोड़कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। विकथा आदि प्रमादों को छोड़कर आत्माश्रय से मोक्षमार्गरूप संवर प्राप्त करने में अपनी बुद्धि लगाना चाहिए। हे आत्मन्! जितेन्द्रिय होकर आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा को क्षणमात्र अनुभवन करता हुआ तू उस सुख को देख, मोक्ष-सुख तो दूर ही रहने दे। इस लोक में देखने योग्य, भोगने योग्य कुछ नहीं है, अतः चैतन्य-लोक में ध्यान लगाओ। हे आत्मन्! अत्यन्त दुर्लभ धर्म में अपनी बुद्धि लगाना चाहिए, क्योंकि धर्म सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला है। अतः हे आत्मन्! जब तक मोक्षसुख प्राप्त न हो, तब तक तुम्हारी श्रद्धा जैनधर्म में ही अटल रहना चाहिए।

इस प्रकार बारह भावनाओं के चिन्तन करने से जीवन्धर महाराज का वैराग्यभाव स्थिर हो गया। वास्तव में, सज्जन पुरुषों की किसी कार्य को प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति व्यवस्थित ही होती है और यदि इसमें सहायता मिल जाये तो फिर कहना ही क्या है?

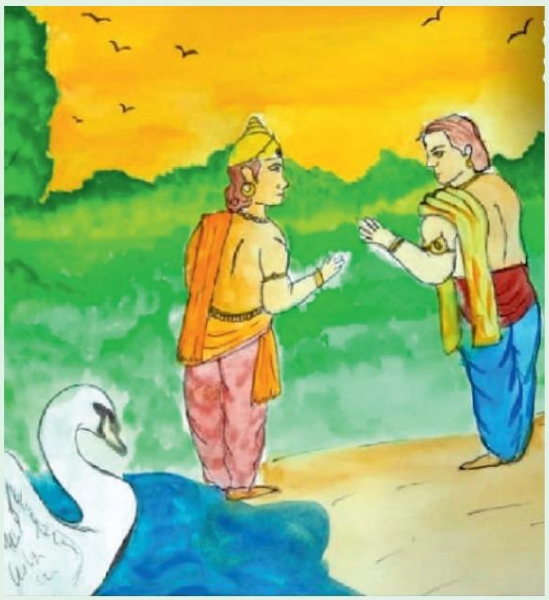

शास्त्रों को जानने वाले राजा जीवन्धर कुमार वहाँ से निकलकर जिनमन्दिर पहुँचे, वहाँ जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके किसी ऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मश्रवण किया। धर्मश्रवण से राजा का धर्म सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त निर्मल हो गया। राजा जीवन्धरकुमार ने मुनिराज से अपने पूर्वजन्म को जानने की इच्छा प्रकट की, तब अवधिज्ञानधारी मुनिराज पूर्वजन्म की कथा कहने लगे -

'हे राजन्!' तुम अपने पूर्वभव में धातकीखण्ड द्वीप के भूमितिलक नगर में राजा पवनवेग के यशोधर नामक सुपुत्र थे। तुमने किसी समय किसी राजहंस के बच्चे को अपने मनोविनोद के लिए पकड़ कर उसे पिंजड़े में बंद कर दिया और उसका पालन-पोषण करने लगे। यह समाचार तुम्हारे धर्मात्मा पिता को मालूम हुआ, उन्होंने तुम्हें बहुत समझाया। तुम्हें धर्म का उपदेश दिया। तब तुमने उस

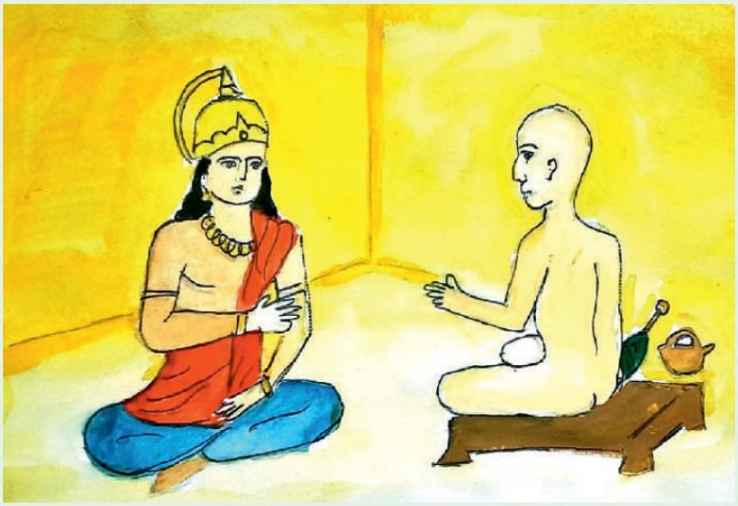

राजहंस के बच्चे को तो मुक्त कर दिया और स्वयं संसार से उदासीन होकर धर्मात्मा हो गये। पिता के बार-बार रोकने पर भी अत्यन्त वैराग्य के कारण तुम दिगम्बर मुनि हो गये तथा तुम्हारी आठ स्त्रियाँ आर्यिका हो गयीं। हे भव्योत्तम ! मुनि दीक्षा लेकर तुमने घोर तप किया और वैमानिक देव हुए और वहाँ से आयु पूर्ण कर इस मनुष्य लोक में अपनी आठों स्त्रियों सहित उत्पन्न हुए हो। इसलिए पूर्वजन्म में हंस के बच्चे को उसके स्थान और माता-पिता से अलग करने से तुम्हारा स्थान और माता-पिता से वियोग हुआ और उस बच्चे को पिंजरे में बंद करने से तुम्हारा बंधन हुआ।

मुनि के वचनों से बिजली गिरने से डरे हुए सर्प की तरह राज्य से भयभीत राजा जीवन्धरकुमार मुनि को नमस्कार कर अपनी नगरी आ गये। वहाँ बुद्धिमान राजा ने अपनी रानी गंधर्वदत्ता के 'सत्यन्धर' नामक पुत्र का राज्याभिषेक करके उसे राज्य सौंप दिया, फिर अपने छोटे भाई नन्दाढ्य और अपनी आठों रानियों के साथ वे भगवान महावीर के समवसरण में पहुँचे। वहाँ भगवान की पूजन-स्तवन करके जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना की।

तीर्थंकर भगवान महावीर की साक्षी में उन्होंने जिनदीक्षा लेने के प्रारम्भ में गणधरदेव को प्रणाम किया, क्योंकि भगवान तो साक्षीमात्र ही रहते हैं, वे आज्ञा भी नहीं देते और विरोध भी नहीं करते। अतः दीक्षा लेने के लिए गुरु की अनुमति लेने की पद्धति है। अतः उन्होंने गणधरदेव को प्रणाम कर दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेकर मुनिराज जीवन्धर कुमार ने कठोर तप किया, जिस तप से यथाक्रम से आठ कर्मों का नाश होता है।

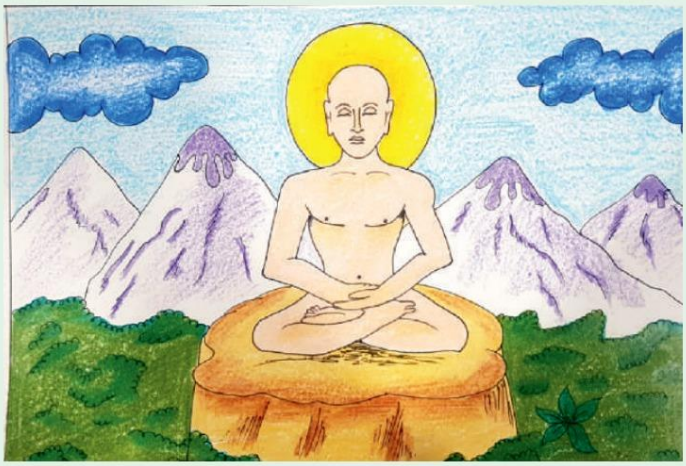

अन्ततः जीवन्धर महामुनि ने सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट से पवित्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता से अनन्तज्ञान-सुखादि आठ गुणों को प्राप्तकर अविनाशी सिद्धपद को प्राप्त किया।

आधार :- आचार्य वादीभसिंह कृत क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धर चरित्र)

11 ये कैसी गुरुदक्षिणा ?

किसी समय अर्जुन हाथ में धनुष लेकर वन में गया। वहाँ उसने सिंह के समान उन्नत एक कुत्ते को देखा। उसका मुख बाणों के प्रहार से अवरुद्ध था। उसे देखकर अर्जुन विचार करने लगा कि 'इसका मुख बाणों से किसके द्वारा वेधा गया है। यह कार्य शब्दवेध के जानकार को छोड़कर दूसरे किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता। इधर मैंने यह भी सुना है कि गुरु द्रोणाचार्य के अतिरिक्त दूसरा कोई व्यक्ति शब्दवेध को नहीं जानता। शब्दवेध की शिक्षा प्राप्त करने के लिए मैं उनके समीप में रहता हूँ। जब यह कुत्ता भौंक रहा होगा, तभी लक्ष्य करके उसका मुख बाणों से भर दिया गया है। परन्तु यह किस शब्दवेधी के द्वारा भरा गया है, यह समझ में नहीं आता।'

इस प्रकार विचार करता हुआ वह आश्चर्य से वन में घूमने लगा। उसने एक जगह हाथ में कुत्ते को पकड़े हुए और कंधे पर मृतक पशु को धारण किये हुए एक भयानक भील को देखा। उसे देखकर अर्जुन ने पूछा – 'मित्र ! तुम कौन हो ? कहाँ रहते हो और कौन–सी विद्या को धारण करनेवाले हो ?, उसने उत्तर दिया, 'मैं वनवासी भील हूँ, धनुर्विद्या में निपुण

और शुद्ध शब्दवेध का जानकार हूँ।' अर्जुन ने फिर पूछा –'हे भीलराज ! यह विद्या तुमने कहाँ से पायी और तुम्हारा गुरु कौन है ? भील ने कहा – मेरे गुरु द्रोणाचार्य हैं, उन्हीं के प्रसाद से यह विद्या मुझे प्राप्त हुई है। उनके सिवा अन्य कोई इस विद्या का जानकार नहीं है।' अर्जुन ने यह सोचकर कि गुरु द्रोणाचार्य से इसका संयोग होना शक्य नहीं है, पुनः उससे प्रश्न किया – 'तुमने द्रोणाचार्य को कहाँ देखा?' तब भील ने एक स्तूप को दिखाकर कहा – ''ये हैं मेरे गुरु द्रोणाचार्य। इस पवित्र स्तूप में मैंने गुरु की कल्पना की है, गुरुत्व बुद्धि से मैं इसको बार–बार प्रणाम करता हूँ। इसी के प्रसाद से मुझे शब्दवेध विद्या प्राप्त हुई है।'' यह सुनकर अर्जुन ने उसकी गुरुभक्ति की बहुत प्रशंसा की और वह वापस हस्तिनापुर आ गया।

यहाँ आकर अर्जुन ने उक्त घटना से गुरु द्रोणाचार्य को परिचित कराया। साथ ही यह भी निवेदन किया – 'हे आचार्य ! यह निर्दय भील निरपराध जीवों का घात करता है।' यह सुनकर द्रोणाचार्य के मन में दुःख हुआ। वे इस अनर्थ को रोकने के लिए मायावेष में अर्जुन के साथ उस वन में गये। वहाँ जाकर उन्होंने भील को देखा। वह प्रत्यक्ष में द्रोणाचार्य से परिचित नहीं था। द्रोणाचार्य ने उससे पूछा– 'तुम कौन हो और तुम्हारे गुरु कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया कि 'मैं भील हूँ और मेरे गुरु द्रोणाचार्य हैं।' फिर द्रोणाचार्य बोले कि 'यदि तुझे गुरु का साक्षात्कार हो तो तू क्या करेगा ?' उसने कहा – 'मैं उनकी दासता करूँगा।' तब आचार्यदेव ने कहा – 'वह द्रोणाचार्य मैं ही हूँ। यदि तू वचन देता है तो मैं तुझसे कुछ याचना करना चाहता हूँ।' भील का वचन प्राप्तकर द्रोणाचार्य ने उससे उसके दाहिने हाथ के अंगूठे को काटकर देने के लिए कहा। तब आज्ञा प्रतिपालक गुरुभक्त भील ने तुरन्त अपना अंगूठा काटकर दे दिया। हाथ के अंगूठा रहित हो जाने से अब वह जीवघात करने वाले धनुष को ग्रहण नहीं कर सकता था। पापी व्यक्ति को शब्दार्थवेधिनी विद्या नहीं देना चाहिए। द्रोणाचार्य ने अर्जुन के लिए उक्त समस्त विद्या अर्पित कर दी।

निष्कर्षतः इस कथा में मुख्यतः तीन पात्र आये हैं – एक भीलपुत्र या किरात बालक जो 'एकलव्य' के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ, दूसरे अर्जुन और तीसरे गुरु द्रोणाचार्य। इनमें से एकलव्य अपनी कई विशेषताओं के कारण प्रशंसनीय है।

जैसे –एकलव्य की गुरु भक्ति ऐसी थी कि गुरु को उसने कभी नहीं देखने पर भी उनकी प्रतिमा या स्तूप बनाकर उसे गुरु मानकर पूरी विनय व भक्ति से उसके सामने धनुर्विद्या का अभ्यास किया तो उसे शब्दवेधी नामक महान एवं दुर्लभ विद्या प्राप्त हो गयी, जो विद्या गुरु द्रोणाचार्य और उन्हीं के प्रसाद से अर्जुन को ही मात्र प्राप्त हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि शिष्य गुरु के प्रति पूर्णरूप से निष्ठावान हो, उनकी अपार विनय से सम्पन्न हो, उनकी अनुपस्थिति में भी उपस्थिति के समान आज्ञापालन करे तो उसे किसी भी विद्या को प्राप्त करने से कोई रोक नहीं सकता। दूसरी विशेषता है, उसकी एकाग्रता। एकलव्य एकाग्रतापूर्वक पूरे मनोयोग से विद्या का अभ्यास करता था, अतः वह भीलपुत्र होने पर भी दुर्लभ विद्या से भी सम्पन्न हो सका, अतः शिष्य को एकाग्रतापूर्वक पूरे मनोयोग से लौकिक या आध्यात्मिक विद्या का अभ्यास करना चाहिए। एकलव्य की तीसरी विशेषता है, उसका गुरु के प्रति समर्पण या गुरुदक्षिणा। गुरु द्रोणाचार्य ने जैसे ही उससे उसके दाहिने हाथ का अंगूठा माँगा, वैसे ही उसने अंगूठा काटकर दे दिया। उसने इस बात की परवाह नहीं की कि दाहिने हाथ के अंगूठे के बिना उसकी विद्या व्यर्थ हो जायेगी। गुरु के प्रति ऐसा समर्पण ही शिष्य को महानता के शिखर पर पहुँचाता है। इसीकारण आज एकलव्य का उदाहरण शिष्यत्व की मिशाल के रूप में दिया जाता है।

अब इस बात पर भी विचार कर लें कि आखिर गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य के दाहिने हाथ का अंगूठा क्यों माँगा ? उसकी विद्या क्यों छीन ली और वह विद्या अर्जुन को क्यों दे दी ? क्या गुरु द्रोणाचार्य में पक्षपात की भावना थी ? क्या वे अपने शिष्य अर्जुन से अधिक किसी और को नहीं देख पा रहे थे ? या अर्जुन की खुशी के लिए ऐसा कठोर कार्य किया ?

इस कथा के आधार से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एकलव्य अपनी कई विशेषताओं से सम्पन्न था, परन्तु वह अपनी विद्या का उपयोग पशु–हिंसा में करता था। बुरे कार्यों में विद्या का उपयोग करना, बहुत ही निंदनीय बात है, यह विद्या का दुरुपयोग है। एकलव्य का यही वह दोष था, जिससे द्रोणाचार्य जैसे महान विवेकवान गुरु को यह निर्णय लेना पड़ा। इस कठोर निर्णय के पीछे कोई भी दुर्भावना नहीं थी, बल्कि एक ही भावना थी कि विद्या का उपयोग अहिंसा के लिए हो, सत्य के लिए हो, सत्कार्यों के लिए हो। अतः शिष्य को गुरु के विशाल, गंभीर एवं विवेकपूर्ण हृदय के रहस्य को समझना चाहिए।

इस प्रकार एकलव्य के गुरुदक्षिणा में दाहिने हाथ का अंगूठा गँवाने के पीछे न तो गुरु द्रोणाचार्य के मन में कोई पक्षपात का भाव था और न ही अर्जुन के हृदय में ईर्ष्या की भावना। दोनों के मन में एकमात्र अहिंसा की पवित्र भावना थी। दोनों ही एकलव्य के गुणों से प्रसन्न थे, परन्तु दोनों इस बात में विश्वास रखते थे कि विद्या का प्रयोग हिंसक कार्यों में नहीं होना चाहिए।

अन्त में, एकलव्य की कथा से हमें यही सीख लेना चाहिए कि हमें एकलव्य की विशेषताओं से प्रेरणा लेकर योग्य शिष्य बनाना चाहिए। साथ ही हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी विद्या का दुरुपयोग न करें, विद्या का उपयोग सदैव स्व–पर कल्याणकारी कार्यों में ही करें। तथा गुरुजनों को गुरु द्रोणाचार्य से सीखना चाहिए कि जिसे हम विद्या प्रदान कर रहे हैं, वह उसका क्या उपयोग कर रहा है तथा पात्र को ही विद्या प्रदान करना चाहिए। साथ ही विद्या का दुरुपयोग होता जानकर गुरु द्रोणाचार्य जैसा कठोर निर्णय लेने से भी पीछे नहीं हटना चाहिए। परन्तु गुरु का पहला प्रयास यही होना चाहिए कि एकलव्य जैसा शिष्य अपने गुरु को गुरुदक्षिणा के रूप में 'हिंसा का त्याग करके अहिंसाव्रत की स्वीकृति' प्रदान करें।

आधार : – भट्टारक श्री शुभचन्द्र द्वारा रचित पाण्डव पुराण

12 राजा श्रीषेण और उनके पुत्र

जम्बूद्वीप के मगधदेश में रत्नपुर नाम का नगर था। उस नगर का राजा था – श्रीषेण। उसकी सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थीं। उन दोनों के इन्द्र और चन्द्रमा के समान सुन्दर, मनुष्यों में उत्तम इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों ही पुत्र अत्यन्त नम्र थे, अतः माता–पिता उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे।

किसी दिन राजा ने घर पर आये हुए आदित्यगति और अरिंजय नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों का पड़गाहन कर उन्हें आहार दिया, पंचाश्चर्य प्राप्त किये और दश प्रकार के कल्पवृक्षों के भोग प्रदान करने वाली उत्तरकुरु की आयु बाँधी। राजा की रानियों ने भी उसी भोगभूमि की आयु का बंध किया, सो ठीक ही है, क्योंकि साधुओं के समागम से क्या सिद्ध नहीं होता ? इस प्रकार शुभ कार्य करते हुए राजा का समय बीतने लगा।

उसी समय कौशाम्बी नगरी में राजा महाबल राज्य करते थे, उनकी श्रीमती नाम की रानी थी और उन दोनों के श्रीकान्ता नाम की पुत्री थी। वह श्रीकान्ता मानो सुन्दरता की सीमा थी। राजा महाबल ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का विवाह श्रीषेण के पुत्र इन्द्रसेन के साथ विधिपूर्वक करा दिया। श्रीकान्ता के साथ उसकी सेवा के लिए अनन्तमति नाम की एक साधारण स्त्री भी गयी थी। उस अनन्तमति के साथ उपेन्द्रसेन का स्नेहपूर्ण समागम हो गया और इस प्रसंग के कारण दोनों भाई आपस में युद्ध के लिए तैयार हो गये।

राजा श्रीषेण ने यह समाचार सुना तो वे उन्हें रोकने के लिए गये, परन्तु वे दोनों ही कामी तथा क्रोधी थे, अतः राजा उन्हें रोकने में असमर्थ रहे। राजा को दोनों ही पुत्र अत्यन्त प्रिय थे। साथ ही उनके परिणाम अत्यन्त कोमल थे, अतः वे पुत्रों का दुःख सहन करने में समर्थ नहीं हो सके। फल यह हुआ कि वे विष–पुष्प सूँघकर मर गये। सो ठीक ही है, क्योंकि धर्मात्मा पुरुष मर्यादा की हानि को सहन नहीं कर सकते। वही विष–पुष्प सूँघकर राजा की दोनों स्त्रियाँ भी प्राणरहित हो गयीं। सो ठीक ही है, कर्मों की प्रेरणा विचित्र होती है। राजा और उसकी स्त्रियों ने पूर्व में बाँधी गयी आयु के अनुसार उत्तरकुरु नामक भोगभूमि में जन्म धारण किया। इस प्रकार वे सब वहाँ भोगभूमि के भोग भोगते हुए सुख से रहने लगे।

माता–पिता की मृत्यु हो जाने पर भी जब वे दोनों भाई परस्पर युद्ध करते रहे, तब कोई विद्याधर दोनों भाइयों को युद्ध से रोकते हुए उनसे कहने लगा कि 'तुम दोनों व्यर्थ ही क्यों युद्ध कर रहे हो ? जिस स्त्री के लिए तुम दोनों लड़ रहे हो, वह तो तुम्हारी पूर्वभव की छोटी बहन है।' उसके वचन सुनकर दोनों कुमारों ने आश्चर्य के साथ पूछा कि 'यह कैसे ?' उत्तर में विद्याधर ने अमितप्रभ जिनेन्द्र के श्रीमुख से सुना हुआ पूर्वभव का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विद्याधर के वचन सुनकर दोनों का कलह दूर हो गया, उनको आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया तथा शीघ्र ही वैराग्य हो गया, उन्होंने सुधर्म नामक गुरु के पास जाकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, वे मोक्षमार्ग के अन्त तक पहुँचे, क्षायिक अनन्तज्ञानादि गुणों के धारक हुए और वे दोनों अन्त में निर्वाण को प्राप्त हुए तथा अनन्तमति ने भी हृदय में

श्रावक के सम्पूर्ण व्रत धारण किये और अन्त में स्वर्ग लोक को प्राप्त किया। सो ठीक ही है, क्योंकि सज्जनों के अनुग्रह से कौन-सी वस्तु नहीं मिलती ?

देखो संसार की विचित्रता ! कहाँ वे राजपुत्र, जिन्हें कई राजकन्याएँ वरण करने के लिए तैयार थीं, वे अपने भोगने के अयोग्य साधारण स्त्री पर मुग्ध हो, भाई से लड़ने को तैयार हो गये ? कहाँ राजा श्रीषेण का मोह, जो अपने पुत्रों के द्वारा कुल की मर्यादा का उल्लंघन करने पर मरण को प्राप्त हुए ? कहाँ वे रानियाँ, जो अपने पति के मरने पर स्वयं मरण को प्राप्त हुईं ? कहाँ तो राजा श्रीषेण, जिसने मुनिराज को आहार-दान देकर भोगभूमि की आयु का बंध किया और दसवें भव में भरतक्षेत्र के सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ होने वाले थे, वे विचित्र मृत्यु को प्राप्त हुए और कहाँ वे राजपुत्र, जो एक हितैषी विद्याधर के द्वारा संबोधित किये जाने पर संसार से विरक्त हो, जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकर कर उसी भव से संसार-सागर को पार कर शाश्वत-आनन्दधाम मोक्ष को प्राप्त हुए ?

जिन्होंने दूसरों की चिन्ता की उन्हें संसार से मुक्त होने में दस भव लग गये और जिन्होंने क्षणिक दुर्विचार किये, युद्ध किया, माता-पिता की मृत्यु का कारण बने, कुल की मर्यादा भी भूल गये, परन्तु प्रतिबोध को प्राप्तकर अपने अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ के बल से पूर्व में संचित कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त हुए। अतः पहले तो पाप करना नहीं, परन्तु पाप हो जाये तो राजपुत्रों की तरह उन पापों का क्षय करना चाहिए।

राजा श्रीषेण का कथानक हमें यह प्रेरणा भी देता है कि हमें व्यर्थ ही परचिंता में अपने जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए, अन्यथा हमारा संसार ही बढ़ने वाला है। अतः सर्वप्रथम तो हमें अपने हित का ही विचार करना चाहिए, अपने कल्याण का उपाय करना चाहिए। स्वयं को मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोधादि भावों से मुक्त कर ज्ञान-वैराग्य और निराकुल आनन्द से सुशोभित करना चाहिए। तत्पश्चात् यदि उपयोग बहिर्मुख होता हो तो उसे अशुभ से बचाने के लिए अपनी भूमिका के योग्य नैतिक दायित्व के निर्वाह, समाज एवं देश के उत्थान एवं धर्मप्रभावना आदि कार्यों में लगाना चाहिए। परन्तु यदि परहित का उपाय करने पर भी सफलता न मिले तो निराश नहीं होना चाहिए, बल्कि अपना सारा समय एवं सारी शक्ति को आत्महितकारी कार्यों में लगा देना चाहिए। वही आचार्य अकलंकदेव ने भी कहा है -

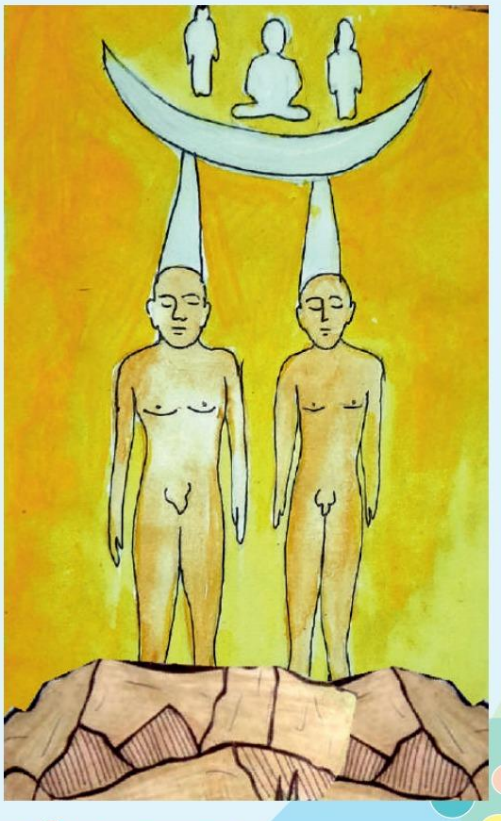

'उत्तमा आत्मचिंता स्यात्, मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंता अधमा अधमा॥'

वस्तुतः परहित कोई कर ही नहीं सकता, वह उसकी योग्यता के अधीन है। किसी का हित, किसी के द्वारा होने का सहजयोग हो तो हो जाता है, अतः व्यर्थ में कर्तृत्व का भार लेकर स्वयं के संसार को नहीं बढ़ाना चाहिए। परन्तु ध्यान रहे, परहित या परोपकार की भावना तो वैरागियों को भी होती है और परहित तो तीर्थंकरों के द्वारा भी होता है, अतः हमें भी वैसी उत्तम भावना रखना चाहिए। परन्तु वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धांत को सदैव याद रखते हुए आत्महित के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए। वस्तुतः यही हमारा कर्तव्य है।

आधार :- आचार्य गुणभद्र रचित उत्तरपुराण

13 दान-विवेकी राजा मेघरथ

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नाम की नगरी में राजा धनरथ राज्य करते थे। उनकी मनोहरा नाम की सुन्दर रानी थी। उनके मेघरथ नाम का पुत्र हुआ। उन्हीं राजा की दूसरी रानी मनोरमा थी। उनके गर्भ से दृढ़रथ नाम का पुत्र हुआ। दोनों ही पुत्र चन्द्र और सूर्य के समान जान पड़ते थे। उन दोनों में पराक्रम, बुद्धि, विनय, प्रभाव, क्षमा, सत्य, त्याग आदि अनेक स्थायी गुण उत्पन्न हुए थे। दोनों ही पुत्र जब पूर्ण युवा हो गये और ऐश्वर्य प्राप्त गजराज के समान सुशोभित होने लगे, तब उन्हें देख राजा का ध्यान उनके विवाह की ओर गया। उन्होंने बड़े पुत्र का विवाह प्रियमित्रा के साथ किया तथा सुमति को छोटे पुत्र की हृदयवल्लभा बनाया। कुमार मेघरथ की प्रियमित्रा स्त्री से नन्दिवर्धन नाम का पुत्र हुआ और दृढ़रथ की सुमति नाम की स्त्री से वरसेन नाम का पुत्र हुआ। इस प्रकार पुत्र, पौत्र आदि सुख के समस्त साधनों से युक्त राजा धनरथ सिंहासन पर बैठकर इन्द्र की लीला धारण करते थे।

राजा धनरथ ने संसार से विरक्त होकर अपने बड़े पुत्र मेघरथ को राज्यभार सौंप दिया और स्वयं ने जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली। आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और तीर्थंकर पद प्राप्त कर दिव्यध्वनि के द्वारा धर्मोपदेश देने लगे।

अपने पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुए श्रेष्ठ राज्य के वैभव से जिनके समस्त मनोरथ पूर्ण हो चुके थे, जो शुद्ध सम्यग्दर्शन से सम्पन्न, व्रतशील आदि गुणों से युक्त, विनयसहित, शास्त्र को जाननेवाले, गम्भीर, सत्य बोलनेवाले, भव्यजीवों में दैदीप्यमान तथा स्त्री, पुत्र आदि जिनकी सेवा करते थे – ऐसे राजा मेघरथ किसी दिन आष्टाह्निक पूजाकर जैनधर्म का उपदेश दे रहे थे और स्वयं उपवास का नियम लिये हुए थे कि इतने में काँपता हुआ एक कबूतर आया और उसके पीछे ही बड़े वेग से चलनेवाला एक गिद्ध आया। वह राजा के सामने खड़ा होकर बोला कि 'हे देव! मैं बहुत भारी भूख की वेदना से पीड़ित हो रहा हूँ, इसलिए आप, आपकी शरण में आया हुआ यह मेरा भक्ष्य कबूतर मुझे दे दीजिए। हे दानवीर! यदि आप यह कबूतर मुझे नहीं देते हैं तो मुझे मरा ही समझिए।' गिद्ध के वचन सुनकर युवराज दृढ़रथ कहने लगे कि 'हे पूज्य! कहिए तो, यह गिद्ध इस प्रकार क्यों बोल रहा है? इसकी बोली सुनकर तो मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।'

अपने छोटे भाई का यह प्रश्न सुनकर राजा मेघरथ इस प्रकार कहने लगे कि 'इस जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के उत्तर की ओर स्थित ऐरावत क्षेत्र के पद्मिनीखेट नामक नगर में सागरसेन नाम का वैश्य रहता था। उसकी स्त्री का नाम अमितमति था। उन दोनों के धनमित्र और नन्दिषेण नामक दो पुत्र थे। अपने धन के निमित्त से दोनों लड़ पड़े और एक-दूसरे को मारकर ये कबूतर तथा गिद्ध नाम के पक्षी हुए हैं। गिद्ध के ऊपर कोई देव स्थित है। वह कौन? यदि यह जानना चाहते हो तो मैं कहता हूँ:-

'दमितारि के युद्ध में जो राजा हेमरथ मारा गया था, वह संसार में भ्रमण कर कैलाश पर्वत के तट पर पर्णकान्ता नदी के किनारे सोम नामक तापस हुआ। उसकी श्रीदत्ता नाम की स्त्री के मिथ्याशास्त्रों को जाननेवाला

चन्द्र नाम का पुत्र हुआ। वह पंचाग्नि तप तपकर ज्योतिर्लोक में देव उत्पन्न हुआ। वह किसी समय स्वर्ग गया हुआ था, वहाँ ऐशानेन्द्र के सभासदों ने प्रशंसा की कि इस समय पृथ्वी पर मेघरथ से बढ़कर दूसरा दाता नहीं है। मेरी इस प्रशंसा को सुनकर इसे बड़ा क्रोध आया। यह उसी क्रोधवश मेरी परीक्षा करने के लिए यहाँ आया है।

हे भाई ! चित्त को स्थिर कर दान आदि का लक्षण सुनो। अनुग्रह करने के लिए जो कुछ अपना धन या अन्य कोई वस्तु दी जाती है, उसे ज्ञानी पुरुषों ने दान कहा है। अनुग्रह शब्द का अर्थ भी अपना और दूसरे का उपकार करना, बतलाया जाता है। जो शक्ति, विज्ञान, श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होता है, वह दाता कहलाता है। जो वस्तु देनेवाले तथा लेनेवाले दोनों के गुणों को बढ़ानेवाली है तथा पीड़ा उत्पन्न करने वाली न हो उसे देय कहते हैं। सर्वज्ञदेव ने यह देय चार प्रकार का बतलाया है। आहार, औषधि, शास्त्र तथा समस्त प्राणियों पर दया करना (अभय)। ये चारों ही शुद्ध देय हैं तथा क्रम-क्रम से मोक्ष के साधन हैं। जो मोक्षमार्ग में स्थित है और स्वयं की तथा दूसरों की संसार-भ्रमण से रक्षा करता है, वह पात्र है – ऐसा कर्ममल रहित कृतकृत्य जिनेन्द्रदेव ने कहा है। अथवा जो कृतकृत्य होकर जगत् की रक्षा करने के लिए भव्य जीवों को निर्दोष वचन कहते हैं, वही उत्तम दाता है।

माँस आदि पदार्थ देय नहीं हैं, इनकी इच्छा करनेवाला पात्र नहीं है और इनका देनेवाला दाता नहीं है। ये दोनों तो नरक के अधिकारी हैं। कहने का सारांश यह है कि यह गिद्ध दान का पात्र नहीं है और यह कबूतर देने योग्य नहीं है।'

मेघरथ की वाणी सुनकर वह ज्योतिषी देव अपना असली रूप प्रकट कर उसकी स्तुति करने लगा और कहने लगा कि 'हे राजन् ! आप अवश्य ही दान के विभाग को जाननेवाले हैं तथा दान के शूर हैं।' इस तरह पूजा कर चला गया। उन गिद्ध और कबूतर दोनों पक्षियों ने भी मेघरथ की कही सब बातें समझीं और अन्त में शरीर छोड़कर वे दोनों देवरमण नामक वन में सुरूप तथा अतिरूप नाम के दो व्यन्तरदेव हुए। राजा मेघरथ के पास आकर वे देव इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे राजन् ! आपके प्रसाद से हम दोनों कुयोनि से निकल सके हैं। ऐसा कहकर तथा पूज्य मेघरथ की पूजा करके वे दोनों देव यथास्थान चले गये।

राजा मेघरथ अनेक वर्षों तक न्याय-नीति पूर्वक राज्य का संचालन करते रहे। एक दिन संसार से विरक्त होकर उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्होंने अपने छोटे भाई युवराज दृढ़रथ को राज्यभार सौंपना चाहा, परन्तु वे भी मेघरथ के साथ दीक्षा लेने के लिए तत्पर हो गये, तब उन्होंने अपने बड़े पुत्र नन्दिवर्धन का राज्य-तिलक कर दिया और अपने भाई दृढ़रथ और अनेक राजाओं के साथ तीर्थंकर धनरथ के समवसरण में दीक्षा ले ली।

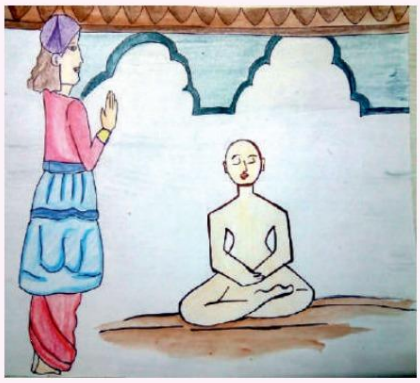

मुनिराज मेघरथ ने तपश्चरण करते हुए सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन किया और तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। कालान्तर में समाधिपूर्वक देह छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद को प्राप्त किया। सर्वार्थसिद्धि से आयु पूर्ण कर वे भरत क्षेत्र में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ हुए और सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

आधार :- आचार्य गुणभद्र रचित उत्तरपुराण

14 वज्रबाहु का वैराग्य

अयोध्यानगरी में महाप्रतापी, न्यायवान, प्रजापालक एक महान राजा राज्य करता था। उसका नाम था – विजय। राजा विजय की हेमचूला नामक रानी से महागुणवान सुरेन्द्रमन्यु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सुरेन्द्रमन्यु की कीर्तिसमा स्त्री से दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनका नाम था – वज्रबाहु और पुरन्दर। बड़े पुत्र वज्रबाहु का विवाह हस्तिनापुर के राजा इभवाहन की पुत्री मनोदया के साथ हुआ।

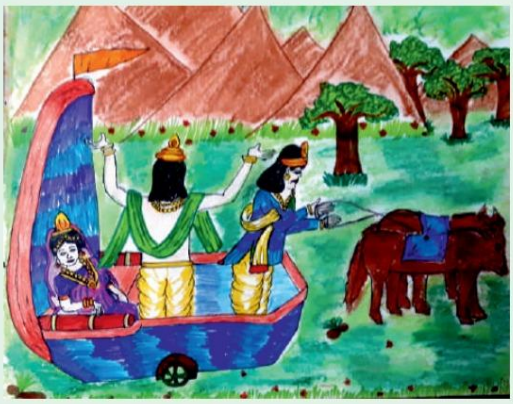

मनोदया अत्यन्त सुन्दर, सुशील एवं सर्वगुण संपन्न थी। वज्रबाहु एवं मनोदया अपने पूर्वकृत पुण्योदय से प्राप्त सांसारिक भोग भोगते हुए अपना समय व्यतीत कर रहे थे। एक दिन कन्या का भाई उदयसुन्दर उस कन्या को लेने के लिए वज्रबाहु के घर गया। अपनी स्त्री के प्रेम में आसक्त वज्रबाहु भी उसके साथ चलने के लिए तैयार हो गया। वह अपनी स्त्री और साले के साथ अपनी ससुराल की ओर चला जा रहा था।

चलते–चलते वज्रबाहु की दृष्टि वसन्त ऋतु के फूलों से व्याप्त वसन्त नामक मनोहर पर्वत पर पड़ी। पर्वत प्रदेश के सुहावने वातावरण का आनन्द लेते हुए वह आगे ही बढ़ता जा रहा था। उसकी दृष्टि नासादृष्टिपूर्वक निज शुद्ध चैतन्य आत्मा का ध्यान करने वाले आत्मानन्द में लीन महायोगी मुनिराज पर ठहर गयी। मुनिराज को देखकर वज्रबाहु इस प्रकार विचार करने लगा कि 'अहो ! ये अत्यन्त प्रशान्त उत्तम मानव धन्य हैं, जो समस्त परिग्रह का त्याग कर मोक्ष की इच्छा से तपस्या कर रहे हैं। इनकी आत्मा परपीड़ा से निवृत्त हो चुकी है। ये अलौकिक लक्ष्मी से अलंकृत हैं। शत्रु और मित्र तथा रत्नों की राशि और तृण में समान बुद्धि रखते हैं। मान एवं मत्सर से रहित हैं। सिद्धिरूपी वधू का आलिंगन करने में इनकी लालसा बढ़ रही है। इन्होंने इन्द्रियों और मन को वश में कर लिया है। ये सुमेरु के समान स्थिर हैं; वीतराग हैं तथा कुशल कार्य में मन स्थिर कर ध्यान कर रहे हैं। मनुष्य–जन्म का पूर्णफल इन्होंने प्राप्त किया है। इन्द्रियरूपी दुष्ट चोर इन्हें ठग नहीं सके हैं। और मैं ? मैं तो कर्मरूपी पाशों से उसी तरह निरंतर वेष्टित हूँ, जिस तरह कि आशीविष जाति के बड़े–बड़े सर्पों से चन्दन का वृक्ष वेष्टित होता है। जिसका चित्त प्रमाद से भरा हुआ है, ऐसे जड़ तुल्य मुझ पापी के लिए धिक्कार है ! मैं भोगरूपी पर्वत की बड़ी गोल चट्टान के अग्रभाग पर बैठकर सो रहा हूँ। यदि मैं इन मुनिराज की इस अवस्था को धारण कर सकूँ तो मनुष्य–जन्म का फल मुझे प्राप्त हो जाये। इस प्रकार विचार करते हुए राजा वज्रबाहु की दृष्टि उन परम शान्तमुद्राधारी निर्ग्रन्थ मुनिराज पर खम्भे में बँधी हुई के समान अत्यन्त निश्चल हो गयी।

वज्रबाहु को निश्चलदृष्टि देख उदयसुन्दर ने मुस्कुराकर परिहास करते हुए कहा कि 'आप इन मुनिराज को बड़ी देर से देख रहे हैं, तो क्या इस दीक्षा को ग्रहण कर रहे हो ? इसमें आप अनुरक्त दिखायी पड़ते हैं।'

अपने भाव को छिपाकर वज्रबाहु ने कहा कि ' हे उदय ! तुम्हारा क्या भाव है, वह तो कहो ?' उसे अन्तर से विरक्त न जानकर उदयसुंदर ने परिहास करते हुए

कहा कि 'यदि आप इस दीक्षा को स्वीकृत करते हैं तो मैं भी आपका साथी होऊँगा। अहो कुमार ! आप इस मुनि दीक्षा से अत्यधिक सुशोभित होओगे।' 'ऐसा ही हो' इसप्रकार कहकर वज्रबाहु रथ से उतरा और पर्वत पर चढ़ गया। तब विशाल नेत्रों को धारण करने वाली स्त्रियाँ जोर-जोर से रोने लगीं। उदयसुन्दर ने भी आँखों में आँसू भरकर कहा कि 'हे देव ! प्रसन्न होओ, यह क्या कर रहे हो ? मैंने तो हँसी की थी।'

मधुर शब्दों में सांत्वना देते हुए वज्रबाहु ने उदयसुन्दर से कहा कि 'हे उत्तम अभिप्राय के धारक ! मैं कुएँ में गिर रहा था, तुमने निकाला है। तीनों लोकों में तुम्हारे समान मेरा दूसरा मित्र नहीं है। हे सुन्दर ! संसार में जो उत्पन्न होता है, उसका मरण अवश्य होता है और जो मरता है, उसका जन्म अवश्यंभावी है। यह जन्म-मरणरूपी घटीयंत्र बिजली, लहर तथा दुष्ट सर्प की जिह्वा से भी अधिक चंचल है तथा निरंतर घूमता रहता है। दुःख में फँसे हुए संसार के जीवों की ओर तुम क्यों नहीं देख रहे हो ? ये भोग स्वप्नों के भोगों के समान हैं, जीवन बुलबुले के तुल्य है, स्नेह संध्या की लालिमा के समान है और यौवन फूल के समान है। हे भद्र ! तेरी हँसी भी मेरे लिए अमृत के समान हो गयी। क्या हँसी में पी गयी औषधि रोग को नहीं हरती ? चूँकि तुमने मेरी कल्याण की ओर प्रवृत्ति करायी है, इसलिए आज तुम्हीं एक मेरे बन्धु हो। मैं संसार के आचार में लीन था, सो आज तुम उससे विरक्ति के कारण हो गये। लो, अब मैं दीक्षा लेता हूँ। तुम अपने अभिप्राय के अनुसार कार्य करो।'' इतना कहकर वह 'गुणसागर' नामक मुनिराज के पास गया और उनके चरणों में प्रणाम कर बड़ी विनय से हाथ जोड़ता हुआ बोला कि 'हे स्वामिन् ! आपके प्रसाद से मेरा मन पवित्र हो गया है, इसलिए आज मैं इस भयंकर संसाररूपी कारागृह से निकलना चाहता हूँ।'

ध्यान समाप्त होने पर मुनिराज ने उसके इस कार्य की अनुमोदना की। महासंवेग से भरा वज्रबाहु वस्त्राभूषण त्याग कर उनके समक्ष शीघ्र ही पद्मासन से बैठ गया। उसने अपने कोमल हाथों से केश उखाड़ कर रख दिये और मोक्ष प्राप्त कराने वाली दीक्षा धारण कर ली।

जिन्होंने राग, द्वेष और मद का परित्याग कर दिया था, संवेग की ओर जिनका वेग बढ़ रहा था, ऐसे उदयसुन्दर आदि छब्बीस राजकुमारों ने भी परम उत्साह से सम्पन्न हो मुनिराज को प्रणाम कर दीक्षा धारण कर ली। यह समाचार जानकर भाई के स्नेह से भीरु मनोदया ने भी बहुत भारी संवेग से युक्त हो दीक्षा ले ली। सफेद वस्त्र से जिसका विशाल स्तनमण्डल आच्छादित था। जिसका उदर अत्यन्त कृश था और जिससे शरीर पर मैल लग रहा था, ऐसी मनोदया बड़ी तपस्विनी हो गयी।

वज्रबाहु के दादा विजयस्यन्दन को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो वे शोक से पीड़ित हो सभा में बोलने लगे कि 'अहो ! आश्चर्य की बात देखो, छोटी-सी उम्र में मेरे पोते ने विषयों से विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। मेरे समान वृद्ध पुरुष भी छोड़ने योग्य जिन विषयों के अधीन हो रहा है, वे विषय उस कुमार ने कैसे छोड़ दिये ? अथवा उस भाग्यशाली पर मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने बड़ा अनुग्रह किया है, जिससे वह भोगों को तृण के समान छोड़कर निराकुल भाव को प्राप्त हुआ है। प्रारम्भ में सुन्दर दिखने वाले पापी विषयों ने जिसे चिरकाल से ठगा है तथा जो वृद्धावस्था से पीड़ित है, ऐसा मैं अभागा इस समय कौन-सी चेष्टा को धारण करूँ ? मेरे बाल सफेद हो गये, नेत्र धस गये, शरीर कमजोर हो गया, कान्ति क्षीण हो गयी और इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं। चेतना शून्य, दुराचारी, प्रमादी तथा भाई-बन्धुओं के मिथ्या स्नेहरूपी सागर की भँवर में पड़े हुए मुझ पापी को धिक्कार हो !'

ऐसा कहकर समस्त बन्धुजनों से पूछकर उदारहृदय वृद्ध राजा विजयस्यन्दन ने निःस्पृह हो छोटे पोते पुरन्दर के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं ने अपने पुत्र सुरेन्द्रमन्यु के साथ निर्वाणघोष नामक निर्ग्रन्थ महात्मा के समीप दीक्षा ले ली।

आधार :- आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण

15 नरभक्षी बना महाव्रती

एक राजा था। उसका नाम था नघुष। समस्त शत्रुओं को वश में कर अपना दास बना लेने के कारण, उसे 'सुदास' कहा जाने लगा और सुदास का पुत्र 'सौदास' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

राजा सौदास के गोत्र में यह पारम्परिक नियम था कि प्रत्येक अष्टाह्निका के आठ दिनों में कोई भी माँस का सेवन नहीं करता था। किन्तु राजा सौदास को किसी अशुभ कर्म के उदय से इन्हीं दिनों में माँस खाने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसने रसोइये को बुलाकर एकान्त में कहा कि 'हे भद्र! आज मुझे माँस खाने की इच्छा उत्पन्न हुई है।' रसोइये ने कहा कि 'हे देव! आप यह जानते हैं कि इन दिनों में समस्त पृथ्वी पर बड़ी समृद्धि के साथ जिनपूजा होती है तथा जीवों के मारने का निषेध ही है।' यह सुन राजा ने रसोइये से कहा कि 'यदि आज मैं माँस नहीं खाता हूँ तो मर जाऊँगा। ऐसा निश्चय कर जो उचित हो, वह करो।'

अधिक बात करने से क्या लाभ है ? राजा की ऐसी दशा जानकर रसोइया नगर के बाहर गया। वहाँ उसने उसी दिन गहरी खाई में छोड़ा हुआ एक मृतक बालक देखा। उसे वस्त्र से लपेटकर वह ले आया और स्वादिष्ट वस्तुओं के साथ पकाकर खाने के लिए राजा को दिया। महामाँस (नरमाँस) के रसास्वाद से जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था, ऐसा राजा उसे खाकर जब उठा, तब उसने आश्चर्य चकित हो रसोइये से कहा कि 'हे भद्र! जिसके अत्यन्त मधुर रस का मैंने पहले कभी स्वाद नहीं लिया, ऐसा यह माँस तुमने कहाँ से प्राप्त किया है ? इसके उत्तर में रसोइये ने अभयदान की याचना कर सारी बात ज्यों-की-त्यों बता दी। तब राजा ने कहा कि 'सदा ऐसा ही किया जाये।'

रसोइये ने छोटे-छोटे बालकों के लिए लड्डू देना शुरु किया, उसके लोभ से बालक प्रतिदिन उसके पास आने लगे। लड्डू लेकर जब बालक जाने लगते, तब उनमें से जो बालक पीछे रह जाता था, उसे मारकर तथा पकाकर वह निरन्तर राजा को भोजन में देने लगा। जब प्रतिदिन नगर के बालक कम होने लगे, तब लोगों ने इस घटना की सच्चाई जानकर रसोइये के साथ-साथ राजा को भी नगर से बाहर निकाल दिया। तथा नगरवासियों ने राजा सौदास की कनकाभा स्त्री से उत्पन्न 'सिंहरथ' नामक पुत्र को राज्य पद पर आरुढ़ कर दिया तथा सभी राजाओं ने उसे प्रणाम किया।

राजा सौदास नरमाँस में इतना आसक्त हो गया कि एक दिन उसने अपने रसोइये को ही खा लिया। अन्त में, वह छोड़े हुए मुर्दों को खाता हुआ दुःखी होकर पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा। जिस प्रकार सिंह का आहार माँसाहार होता है, उसीप्रकार इसका भी आहार माँसाहार हो गया था। इसलिए यह संसार में 'सिंह-सौदास' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

एक दिन वह दक्षिण देश में जाकर एक दिगम्बर मुनि के पास पहुँचा और उनसे धर्म का श्रवण किया। मुनिराज ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह- इन पाँच पापों का स्वरूप समझाकर उनके त्याग का उपदेश दिया। मुनिराज के उपदेश से प्रभावित होकर उसने हिंसा आदि पाँचों पापों का त्याग कर दिया और अणुव्रतों का धारी हो गया।

उसीसमय महापुर नगर का राजा मर गया था। उसके कोई संतान नहीं थी। अतः लोगों ने निश्चय किया कि पट्टबन्ध हाथी छोड़ा जाये। वह हाथी जिसे कन्धे पर बैठाकर लाये, उसे ही राजा बना दिया जाये। निश्चयानुसार पट्टबन्ध हाथी छोड़ा गया और वह सिंह-सौदास को कंधे पर बैठाकर नगर में ले गया। फलस्वरूप उसे राज्य प्राप्त हो गया।

राजा बनने के कुछ समय बाद जब सौदास बलिष्ठ हो गया, तब उसने उसे नमस्कार करने के लिए अपने पुत्र के पास दूत भेजा। इसके उत्तर में पुत्र ने निर्भय होकर लिख दिया कि 'चूँकि तुम निन्दित आचरण करने वाले हो, अतः तुम्हें नमस्कार नहीं करूँगा। तब राजा सौदास अपने पुत्र के ऊपर चढ़ाई करने के लिए उद्यत हुआ। जब सौदास अपने पुत्र पर चढ़ाई के लिए उसके राज्य की ओर चला, तब 'कहीं यह खा न ले' इस भय से समस्त देशवासी लोगों ने भागना शुरु कर दिया।

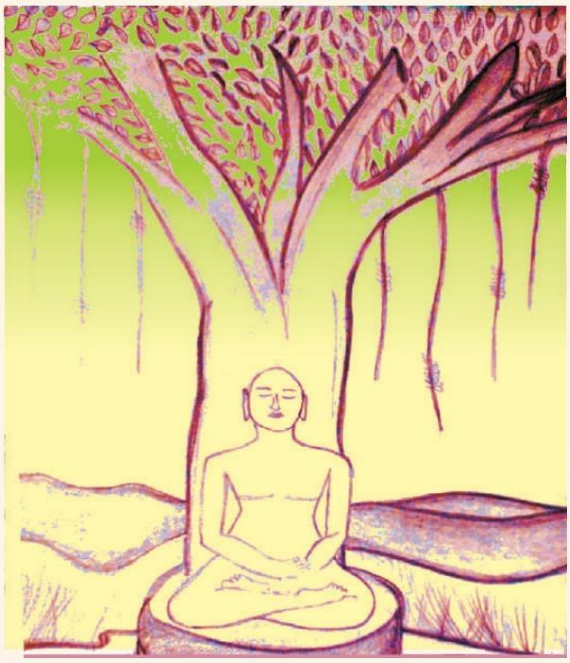

अन्त में, सौदास ने युद्ध में पुत्र को जीतकर उसे ही राजा बना दिया। और स्वयं कृतकृत्य होकर महावैराग्य को प्राप्त हुआ और विचार करने लगा कि 'अहो ! कैसा विचित्र संसार है। इस संसार में जीव अपने सुख के लिए दूसरों के सुख भी छीन लेता है। दूसरों के प्राण लेकर अपने प्राण पुष्ट करता है। धिक्कार है, यह अपनी जिह्वा इन्द्रिय की तृप्ति के लिए और क्षणिक स्वाद के लिए क्या नहीं करता ? मेरे समान नरमांसभक्षी भी हो जाता है। अतः इस नश्वर, स्वार्थपूर्ण, दुःख रूप संसार से मुक्ति के लिए मुझे जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करना चाहिए। ऐसा विचार करके राजा सौदास तपोवन की ओर चला गया तथा वह जिनदीक्षा लेकर महान तप करने लगा। अहो ! धन्य है मुनिदशा, धन्य है महातप, धन्य है आत्मसाधना, धन्य है मोक्षसुख।

आधार : आचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण

16 महान शिष्यों के महान गुरु

भारत देश में एक 'काम्पिल्य' नाम का सुन्दर नगर था। उसमें 'शिखी' नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी 'इषु' नाम की स्त्री थी। उन दोनों का 'ऐर' नाम का एक पुत्र था। वह माता–पिता को बहुत प्यारा था, उनकी आँखों का तारा था। वे उसे खुश रखने के लिए हरसंभव प्रयत्न करते थे। वे उसे थोड़ा–सा भी कष्ट नहीं होने देते थे, चाहे उन्हें कितनी ही परेशानी क्यों न उठानी पड़े। परन्तु उनके अत्यधिक लाड़–प्यार के कारण ऐर महा अविनयी हो गया था। वह बात–बात में जिद करने लगा। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने लगा। न वह बड़ों का सम्मान करता और न ही उनकी हितकारी बातें मानता, बस अपनी ही मनमानी करता था। वह ऐसी चेष्टाएँ करता कि हर कोई उसकी उलाहना लेकर उसके माता–पिता के पास आ जाता। माता–पिता भी उसकी हरकतों से परेशान हो गये।

ऐर के माता–पिता ने विचार किया कि 'धन का उपार्जन करना, विद्या ग्रहण करना और धन–संचय करना – ये तीनों कार्य यद्यपि मनुष्य के अपने अधीन हैं, फिर भी प्रायः इनकी सिद्धि विदेश में ही होती है।' उन्होंने दुःखी मन से या अपने कलेजे पर पत्थर रखकर उसे घर से निकाल दिया। ऐर केवल दो कपड़ों को धारण करता हुआ दुःखी अवस्था में राजगृह नगर पहुँचा।

राजगृह नगर में एक वैवस्वत नाम का विद्वान रहता था। वह धनुर्विद्या में अत्यन्त निपुण था। उसके एक हजार शिष्य थे। सभी शिष्य विद्याध्ययन में कठोर श्रम करने वाले थे। ऐर उसी के पास विधिपूर्वक धनुर्विद्या सीखने लगा।

विनयपूर्वक अथक परिश्रम से अभ्यास करने के कारण वह कुछ ही समय में उसके हजार शिष्यों से भी अधिक निपुण हो गया।

राजगृह के राजा ने जब यह सुना कि 'वैवस्वत ने किसी विदेशी बालक को हमारे पुत्रों से भी अधिक कुशल बनाया है, तब वह यह जानकर क्रोधित हो उठा। राजा को कुपित सुनकर अस्त्र विद्या के गुरु वैवस्वत ने ऐर को यह समझाया कि 'तू राजा के सामने मूर्ख बन जाना।' इसके बाद राजा ने यह कहकर शिष्यों के साथ वैवस्वत गुरु को बुलाया कि 'मैं तुम्हारे सब शिष्यों की शिक्षा देखूँगा।'

राजा ने सब शिष्यों से क्रम से बाण चलवाये और सबने यथायोग्य निशाने वेध दिये। इसके बाद ऐर से बाण छुड़वाये तो उसने इस रीति से बाण छोड़े कि राजा ने उसे मूर्ख समझा। जब राजा ने यह समझ लिया कि लोगों ने इसके विषय में जो कहा था, वह सब झूठ है, तब उसने अस्त्राचार्य को सम्मान के साथ विदा किया। वैवस्वत शिष्यमण्डल के साथ अपने घर चला गया। गुरु वैवस्वत अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य ऐर से अत्यधिक संतुष्ट था, अतः उसने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करा दिया।

ऐर अपने गुरु की सम्मति से अपनी विवाहिता स्त्री के साथ रात्रि में वहाँ से भागकर राजा दशरथ की राजधानी अयोध्यापुरी आ गया। संयोग की बात है कि उसीसमय राजा दशरथ ने अपने चारों पुत्रों– राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को विद्याग्रहण के योग्य देखकर बड़ी व्यग्रता से योग्य अध्यापक का विचार किया और उन्होंने योग्य अध्यापक की खोज शुरु कर दी।जब यह समाचार ऐर को प्राप्त हुआ, तब उसने राजा दशरथ के पास जाकर उन्हें अपना कौशल दिखाया और राजा ने संतुष्ट होकर उसे अपने सब पुत्र सौंप दिये।

परिणामतः जिस प्रकार निर्मल सरोवरों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का बिम्ब विस्तार को प्राप्त होता है, उसी प्रकार उन शिष्यों में ऐर का अस्त्रकौशल प्रतिबिम्बित होकर विस्तार को प्राप्त हो गया। राम आदि सभी तरह के अस्त्र–शस्त्रों के संचालन में पारंगत हो गये। केवल इतना ही नहीं , इसके साथ–साथ उन्हें अन्य–अन्य विषयों के गुरु प्राप्त होने से उनके अन्य–अन्य विषयों संबंधी ज्ञान भी उसी तरह प्रकाशता को प्राप्त हो गया, जिसतरह कि ढक्कन के दूर हो जाने से छिपे हुए रत्न प्रकाशता को प्राप्त हो जाते हैं। इसप्रकार राम आदि चारों पुत्र शस्त्र और शास्त्र – दोनों में सर्वप्रकार से निष्णात हो गये।

पुत्रों के नय, विनय और उदार चेष्टाओं से जिनका हृदय हरा गया है – ऐसे राजा दशरथ उन पुत्रों का सर्वशास्त्र विषयक अतिशयपूर्ण ज्ञान देखकर अत्यन्त संतोष को प्राप्त हुए। राजा दशरथ गुणों के समूह थे। वे ज्ञान और पाण्डित्य से युक्त थे तथा दान में उनकी कीर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध थी, इसलिए उन्होंने समस्त गुरुओं का सम्मान कर उन्हें इच्छा से भी अधिक धन–वैभव प्रदान किया।

सत्य ही कहा गया है –

किसी योग्य पुरुष को प्राप्तकर थोड़ा ज्ञान भी उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाता है, किसी को पाकर उतना का उतना ही रह जाता है और कर्मों की विषमता से किसी को पाकर उतना भी नहीं रहता। सो ठीक ही है, क्योंकि सूर्य की किरणों का समूह स्फटिकगिरि के तट को पाकर अत्यन्त विस्तार को प्राप्त हो जाता है, किसी स्थान में तुल्यता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उतना–का–उतना ही रह जाता है और अंधकारयुक्त स्थान में बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है।

आधार :– आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण

17 मित्रता की मिशाल : पद्मरुचि और बैल

महापुर नामक श्रेष्ठ नगर था। वहाँ जैनधर्म के श्रद्धालु मेरु एवं धारिणी नामक सेठ–सेठानी निवास करते थे। उनके पद्मरुचि नाम का गुणवान पुत्र था।

किसी दिन पद्मरुचि घोड़े पर चढ़कर अपने गोकुल की ओर आ रहा था। मार्ग में उसने पृथ्वी पर पड़ा एक बूढ़ा बैल देखा। सुगन्धित वस्त्र तथा माला आदि को धारण करनेवाला पद्मरुचि घोड़े से उतरकर दयालु होता हुआ आदरपूर्वक उस बैल के पास गया। पद्मरुचि ने उसके कान में णमोकार मंत्र का जाप सुनाया। जब पद्मरुचि उसके कान में णमोकार मंत्र का जाप दे रहा था, तभी उस मंत्र को सुनता हुआ बैल का आत्मा उस शरीर से बाहर निकल गया अर्थात् णमोकार मंत्र सुनते–सुनते उसके प्राण निकल गये। मंत्र के प्रभाव से जिसके कर्मों का जाल कुछ कम हो गया था ऐसा वह बैल, उसी नगर के राजा छत्रच्छाय की श्रीदत्ता नाम की रानी का पुत्र हुआ। उसका नाम 'वृषभध्वज' रखा गया। चूँकि छत्रच्छाय के पुत्र नहीं था, इसलिए वह उसके उत्पन्न होने पर बहुत संतुष्ट हुआ। नगर में बहुत भारी सम्पदा खर्च कर अत्यधिक शोभा की गयी तथा बाजों से जो बहरा कर रहा था, ऐसा महान उत्सव किया गया।

कर्मों के संस्कार से वृषभध्वज को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो गया। बैल पर्याय में बोझा ढोना, शीत तथा आतप आदि से उत्पन्न दारुण दुःख उसने भोगे थे तथा उसे णमोकार मंत्र श्रवण करने का अवसर मिला था, वह सब उसकी स्मृतिपटल में झूलने लगा। महासुन्दर चेष्टाओं को धारण करता हुआ वह जब बाल्यकालीन क्रीड़ाओं में आसक्त रहता था, तब भी मन में णमोकार मंत्र के स्मरण का सदा ध्यान रखता था।

किसी दिन वह विहार करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ बैल का मरण हुआ था। उसने एक–एक करके अपने घूमने के सब स्थानों को पहचान लिया। वृषभध्वज राजकुमार हाथी से उतरकर दुःखित चित्त होता हुआ इच्छानुसार बहुत देर तक बैल के मरने की उस भूमि को देखता रहा। समाधिमरण रूपी रत्न के दाता तथा उत्तम चेष्टाओं से सहित उस बुद्धिमान पद्मरुचि को जब वह नहीं देख सका, तब उसने उसे देखने के लिए योग्य उपाय का विचार किया।

उसने उसी स्थान पर कैलाश के शिखर के समान एक जिनमन्दिर बनवाया, उसमें चित्रपट आदि पर महापुरुषों के चरित्र तथा पुराण लिखवाये। उसी मन्दिर के द्वार पर उसने अपने पूर्वभव के चित्र से चित्रित एक चित्रपट लगवा दिया तथा उसकी परीक्षा करने के लिए चतुर मनुष्य उसके समीप खड़े कर दिये।

वन्दना की इच्छा करता हुआ पद्मरुचि एक दिन उस मन्दिर में आया और हर्षित चित्त होता हुआ उस चित्र को देखने लगा। आश्चर्य चकित हो उसी चित्र पर नेत्र गड़ाकर जब वह उसे देख रहा था, वृषभध्वज के सेवकों ने उसे जब समाचार सुना दिया। तब विशाल सम्पदा से सहित राजपुत्र, इष्ट के समागम की इच्छा करता हुआ उत्तम हाथी पर सवार हो वहाँ आया। हाथी से उतरकर उसने जिनमन्दिर में प्रवेश किया और बड़ी तल्लीनता के साथ उस चित्रपट को देखते हुए धारिणीसुत पद्मरुचि को देखा। जिसके नेत्र, मुख तथा हाथों के संचार से अत्यधिक आश्चर्य सूचित हो रहा था, ऐसे उस पद्मरुचि को पहचानकर वृषभध्वज ने उसके चरणों में नमस्कार किया। पद्मरुचि ने उसके लिए बैल के दुःखपूर्ण मरण का समाचार कहा, जिसे सुनकर उत्फुल लोचनों को धारण करने वाला राजपुत्र बोला कि 'वह बैल मैं ही हूँ।'

जिस प्रकार उत्तम शिष्य गुरु की पूजा कर संतुष्ट होता है, उसी प्रकार वृषभध्वज भी पद्मरुचि की पूजा कर संतुष्ट हुआ। पूजा के बाद राजपुत्र ने पद्मरुचि से कहा कि 'मृत्यु के संकट से परिपूर्ण उस काल में आप मेरे प्रियबंधु के समान समाधि प्राप्त कराने के लिए आये थे। उस समय तुमने दयालु होकर जो समाधिरूपी अमृत का सम्बल मुझे दिया था देखो, उसी से तृप्त होकर मैं इस भव को प्राप्त हुआ हूँ। तुमने जो मेरा भला किया है, वह न माता करती है, न पिता करता है, न सगा भाई करता है, न परिवार के अन्य लोग करते हैं और न देव ही करते हैं।

तुमने जो मुझे णमोकार मंत्र श्रवण का दान दिया था, उसका मूल्य यद्यपि मैं नहीं चुका सकता, तथापि आप में जो मेरी परम भक्ति है, वही यह चेष्टा करा रही है। हे नाथ ! मुझे आज्ञा दो, मैं आपके लिए क्या करूँ ? हे पुरुषोत्तम ! आज्ञा देकर मुझ भक्त को अनुगृहीत करो। तुम यह समस्त राज्य ले लो, मैं तुम्हारा दास बनूँगा। अभिलषित कार्य में इस शरीर को नियुक्त कीजिए। इत्यादि उत्तम शब्दों के साथ-साथ उन दोनों में परम प्रेम हो गया, दोनों को ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, वह राज्य दोनों का सम्मिलित राज्य हुआ और दोनों का संयोग चिर संयोग हो गया। जिनका अनुराग ऊपर-ही-ऊपर न रहकर हड्डी तथा मज्जा तक पहुँच गया था, ऐसे वे दोनों श्रावक के व्रत से सहित हुए। स्थिर चित्त के धारण करने वाले उन दोनों ने पृथ्वी पर अनेक जिनमन्दिर और जिनबिम्ब बनवाये।

आगामी भव में पद्मरुचि का जीव राम एवं बैल या राजकुमार वृषभध्वज का जीव 'सुग्रीव' हुए। राम और सुग्रीव की मित्रता तो मित्रता का प्रसिद्ध उदाहरण है। दोनों मित्रों ने मुक्ति की प्राप्ति भी एक ही पर्वत तुंगीगिरि से की। उनकी मित्रता अमर हो गयी।

आधार :- आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण

18 सम्यग्दृष्टि श्रावक 'जटायु'

राम-लक्ष्मण और सीता वनवास काल में भारत देश के दक्षिण में बहने वाली कर्णरवा नदी के निकट स्थित विस्तृत, सघन एवं भयानक दण्डक वन में निवास कर रहे थे। एक दिन राम एवं सीता ने अतिथि-प्रेक्षण के समय सहसा सामने आते हुए सुगुप्ति एवं गुप्ति नामक दो मुनिराजों को देखा और देखते ही विनय और भक्तिपूर्वक दोनों मुनिराजों का पड़गाहन किया। नवधा भक्तिपूर्वक दिये गये आहार को मुनिराजों ने शास्त्रोक्त शुद्धि सहित ग्रहण किया। उन मुनियों के चित्त भोजन विषयक गृद्धता से रहित थे। योग्य दाता एवं योग्य पात्रों के मणिकांचन-संयोग से देवताओं ने पंचाश्चर्य प्रकट किये।

वन के इसी स्थान में सघन महावृक्ष के अग्रभाग पर एक बड़ा भारी गिद्ध पक्षी स्वेच्छा से आकर बैठ गया। अतिशय पूर्ण दोनों मुनिराजों को देखकर कर्मोदय के प्रभाव से उसे जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा अपने अनेक पूर्वभव स्मृत हो उठे। वह विचार करने लगा कि 'यद्यपि मैं पूर्व पर्याय में विवेकी था तो भी मैंने प्रमादी बनकर मनुष्य भव में करने योग्य तपश्चरण नहीं किया, अतः मुझ अविवेकी को धिक्कार हो! मैंने कभी धर्म का सेवन नहीं किया, गुरुओं का उपदेश नहीं सुना और अत्यधिक पाप का आचरण किया। इस कुयोनि में भी क्या उपाय करूँ? मैं तो सब जीवों को सुख देने वाले इन्हीं दोनों मुनियों की शरण को प्राप्त होता हूँ। इनसे निश्चित ही मुझे परमार्थ की प्राप्ति होगी।'

पूर्वभव का स्मरण होने से जो परम शोक को प्राप्त हुआ था तथा महामुनियों के दर्शन से जो अत्यधिक हर्ष को प्राप्त था। ऐसा अश्रुपूर्ण नेत्रों का धारक एवं विनयपूर्ण चेष्टाओं से सहित वह गिद्ध दोनों पंख फड़फड़ा कर शीघ्रता से वृक्ष के शिखर से नीचे आया तथा बड़े उत्साह से मुनिराज के चरणोदक को पीने लगा। चरणोदक के प्रभाव से उसका शरीर उसी समय रत्नराशि के समान नाना प्रकार के तेज से व्याप्त हो गया। अपने आपको अन्यरूप देख, वह अत्यन्त हर्षित हुआ और मधुर शब्द करता हुआ नृत्य करने लगा। वह गिद्ध दोनों मुनियों की प्रदक्षिणा देकर हर्षाश्रु छोड़ता हुआ अपने पंख संकुचित कर तथा मुनिराज के चरणों में प्रणाम कर अंजलि बाँधकर सुख से बैठ गया।

उस गिद्ध को देखकर परम आश्चर्य को प्राप्त हुए श्रीराम ने शिलातल पर विराजमान मुनियों को प्रणाम कर उनसे पूछा कि 'हे भगवन्! विरूप शरीर का धारक, महा अपवित्र, माँसाहारी तथा दुष्ट हृदय का धारक यह गिद्ध क्षणभर में सुवर्ण तथा रत्नराशि के समान कान्ति का धारक होकर आपके चरणों में बैठकर अत्यन्त शांत कैसे हो गया?'

सुगुप्ति नामक मुनिराज बोले कि 'हे राजन्! पहले यहाँ नाना जनपदों से व्याप्त एक बहुत बड़ा सुन्दर देश था। इसी देश में एक कर्णकुण्डल नाम का मनोहर नगर था, जिसमें यह परम प्रतापी 'दण्डक' नाम का राजा था। राजा धर्म की श्रद्धा से पापपोषक शास्त्रों को ही सत्य समझता था तथा उसकी रानी परिव्राजकों की बड़ी भक्त थी एवं परिव्राजकों के स्वामी के साथ यथेच्छ भोग भोगती थी। राजा दण्डक रानी के वशीभूत था, इसलिए यह भी उसी का अनुसरण करता था।

एक दिन जब राजा नगर से बाहर निकला तो उसने ध्यानस्थ वीतराग मुनिराज को देखा। पाषाण के समान कठोर चित्त के धारक राजा ने उन मुनि के गले में एक जहरीला मरा हुआ साँप डलवा दिया। बहुत रात्रियाँ व्यतीत हो जाने के बाद जब वह राजा उसी मार्ग से निकला तो उसने उन महामुनि को उसीप्रकार ध्यानारूढ़ देखा। उसी समय कोई मनुष्य मुनिराज के गले से साँप अलग कर रहा था। राजा मुनिराज की सरलता से आकृष्ट हो उनके पास गया और उनसे क्षमा माँगकर यथास्थान चला गया।

उसी समय से वह दिगम्बर मुनियों का उत्तम भक्त हो गया। रानी के साथ गुप्त समागम करने वाले परिव्राजकों के स्वामी ने जब राजा के इस परिवर्तन को जाना, तब उसी पापी ने निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि का रूप धारण कर रानी के साथ समागम किया। जब राजा को पता चला कि दिगम्बर मुनि उसकी रानी के साथ समागम करता है तो उसने क्रोध में अंधा होकर अपने सेवकों को यह आदेश दिया कि सभी दिगम्बरमुद्रा धारी मुनियों को घानी में पेल दो। परिणामस्वरूप अनेक मुनियों को घानी में पेला जाने लगा।

उसी नगरी की ओर आते हुए उसी संघ के एक मुनि को एक दयालु मनुष्य ने उस नगरी में न जाने का निवेदन किया। उन मुनिराज को जैसे ही क्रूर राजा की आज्ञा से मुनियों को घानी में पेले जाने की बात ज्ञात हुई, उनका चित्त क्रोधरूपी अग्नि से जलने लगा, परिणामस्वरूप उनके शरीर से कालाग्नि के समान धुएँ के साथ अग्नि निकली और उस अग्नि ने सारे देश को भस्म कर दिया। जब उस क्रोधाग्नि ने महान संवेग से युक्त मुनिराज के चिर संचित महान तप को ही जला डाला, तो फिर कौन-सी वस्तु जलने से बच सकती थी ? यह दण्डक देश था तथा दण्डक ही यहाँ का राजा था, इसलिए आज भी यह स्थान दण्डक नाम से ही प्रसिद्ध है।

राजा दण्डक बहुत समय तक संसार में भ्रमण कर दुख भोगता हुआ इसी वन में गिद्ध पर्याय को प्राप्त हुआ है। इस समय इस वन में आये हुए अतिशययुक्त हम दोनों को देखकर पापकर्म की मंदता होने से यह पूर्वभव के स्मरण को प्राप्त हुआ है। जो दण्डक राजा पहले परम शक्ति से युक्त था, वह देखो, आज पापकर्मों के कारण कैसा हो गया है ?

पापकर्म का नीरस फल जानकर धर्म में क्यों नहीं लगा जाये और पाप से क्यों नहीं विरक्त हुआ जाये ? दूसरे का उदाहरण भी जब शान्ति का कारण हो जाता है, फिर अपनी ही खोटी बात स्मरण आ जाये तो कहना की क्या है ? राम से इतना कहकर मुनिराज ने गिद्ध से कहा कि हे द्विज ! अब भयभीत मत होओ, रोओ मत, जो बात जैसी होने वाली है, उसे अन्यथा कौन कर सकता है ? धैर्य धरो, निश्चिन्त होकर कँपकँपी छोड़ो, सुखी होओ। देखो, यह महा अटवी कहाँ ? और राम सहित सीता कहाँ ? हमारा पड़गाहन कहाँ ? और आत्मकल्याण के लिए दुःख का अनुभव करते हुए तुम्हारा प्रबुद्ध होना कहाँ ? कर्मों की ऐसी ही चेष्टा है। कर्मों की विचित्रता के कारण यह संसार अत्यंत विचित्र है।'

यह सुनकर वह गिद्ध संसार संबंधी दुःखों से अत्यन्त भयभीत हो गया और धर्म ग्रहण की इच्छा से बार-बार शब्द करने लगा। तब मुनिराज ने कहा कि हे भद्र ! भय मत करो। इस समय व्रत धारण करो, जिससे फिर यह दुःखों की संतति प्राप्त न हो। मुनिराज के इस प्रकार कहने पर गिद्ध ने अंजलि बाँध कर बार-बार सिर हिलाकर तथा मधुर शब्द का उच्चारण कर मुनिराज का उपदेश ग्रहण किया। मुनियों ने राम-सीता से कहा कि यह पक्षी अब सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी श्रावक हो गया है, अतः इसकी सदा रक्षा करनी चाहिए । इसके बाद परम उपकारी दोनों मुनिराज योग्य स्थान के लिए विहार कर गये।

गुरु के वचनों का अनुसरण करते हुए सीता उस पक्षी का पुत्रवत् पालन करने लगी तथा उसके शरीर पर रत्न तथा स्वर्णनिर्मित किरणरूप जटाएँ सुशोभित होती हुई देखकर राम आदि उसे 'जटायु' नाम से बुलाने लगे। वह उन्हें अत्यन्त प्यारा था। धर्म से स्नेह करने वाली दयालु सीता बड़ी सावधानी से उसकी रक्षा करती हुई सदा उस पर बहुत प्रेम रखती थी।

वह जटायु राम आदि के साथ ही दिन में शुद्ध भोजन करना, छना पानी पीना, मुनियों की वंदना करना, जिनेन्द्र भक्ति के समय नृत्य करना इत्यादि शुभ चेष्टाएँ करता हुआ अपना जीवनयापन करने लगा।

अन्त में, सीता-हरण के समय सीता की रक्षा करते हुए रावण के द्वारा घायल होने पर वह जमीन पर गिर पड़ा। सीता की खोज करते हुए राम ने जब उसे मरणासन्न अवस्था में देखा तो दयालु राम ने उसे उत्तम संबोधन प्रदान किया, जिससे जटायु समाधिमरण कर देवपर्याय को प्राप्त हुआ।

अहो ! देखो धर्म का माहात्म्य ! एक साधारण-सा पक्षी सम्यग्दृष्टि अणुव्रती श्रावक होकर अन्त में समाधिमरण करके देवपर्याय को प्राप्त हो गया। अतः हमें भी अपने अपूर्व पुरुषार्थ से इस आनन्ददायक धर्म को अवश्य धारण करना चाहिए।

आधार :- आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण

19 रावण का अंतिम संस्कार

न्याय का अन्याय के विरुद्ध, नीति का अनीति के विरुद्ध, राम का रावण के विरुद्ध युद्ध का अन्तिम प्रसंग था। रावण ने राम-लक्ष्मण को परास्त करने के लिए अपना सारा विद्याबल लगा दिया, परन्तु वह उन्हें परास्त न कर सका। अन्त में, रावण ने सुदर्शन चक्र का आह्वान कर उसे लक्ष्मण की ओर छोड़ दिया। राम, सुग्रीव, हनुमान, भामण्डल, विभीषण आदि राम-पक्ष के सभी वीरों एवं स्वयं लक्ष्मण ने चक्र को रोकने के लिए अपनी सारी शक्तियों का प्रयोग कर लिया, परन्तु उसे कोई न रोक सका। वस्तुतः सुदर्शन चक्र अपने लक्ष्य को वेधकर अपने स्वामी के हाथ में वापस आ जाता है। अतएव सभी घबरा गये। परन्तु यह क्या हुआ ? चक्र तो लक्ष्मण की तीन परिक्रमाएँ करता हुआ लक्ष्मण के ही हाथ में आ गया। सो ठीक ही है, क्योंकि चक्र आदि सम्पदाएँ तो पुण्य की ही दासी होती हैं। रावण भी आश्चर्यचकित रह गया। राम-पक्ष में खुशी की लहर दौड़ गयी। लक्ष्मण नारायण के रूप में प्रगट हो गये। रावण विचार करने लगा कि 'निश्चय ही लक्ष्मण नारायण है, अतः अब उसका मरण निश्चित है, क्योंकि प्रतिनारायण का संहार करके नारायण अर्धचक्रवर्ती पद प्राप्त करता है। यह शाश्वत सत्य है।'

रावण भी इस अनादिनिधन नियम से अनभिज्ञ नहीं था, परन्तु तभी उसका अहंकार जाग उठा। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि' इस उक्ति के अनुसार रावण स्वयं ही लक्ष्मण को चक्र-संचालन के लिए प्रेरित करने लगा। लक्ष्मण ने रावण को बार-बार समझाया कि वह राम की शरण में आ जाये, राम की आज्ञानुसार अपने राज्य का संचालन करे। परन्तु होनहार तो होकर ही रहती है, अतः रावण के उकसाने पर लक्ष्मण ने रावण को मारने के लिए चक्र चला दिया। देखत-ही-देखते चक्र ने तीनखण्ड के अधिपति महाबली रावण को प्राणरहित कर दिया। रावण का शरीर भूमि पर जा गिरा। विभीषण अपने भाई के वियोगजन्य शोक से विह्वल हो उठा। रावण के रनिवास में समाचार पहुँचते ही मंदोदरी आदि अठारह हजार रानियों एवं अन्य परिजनों का करुण रुदन प्रारम्भ हो गया। सारा वातावरण शोक में निमग्न हो गया।

राम ने विभीषण को सांत्वना दी। पटरानी मंदोदरी आदि को ढाँढ़स बँधायी। शत्रुसेना को भयमुक्त एवं शान्त किया तथा आदेश दिया कि 'पूरे सम्मान के साथ रावण का अंतिम संस्कार किया जाये, क्योंकि शत्रुता जीवनपर्यंत ही रह सकती है, मरण के साथ ही शत्रुता भी समाप्त हो जाती है। रावण ने अपराध किया था, अतः उसे उसका फल भी मिल गया। अब हमें अपने नैतिक दायित्व का निर्वाह करना चाहिए।' राम का आदेश सुन विनयवान लक्ष्मण सहित सभी वीर योद्धाओं ने सहर्ष सम्मति प्रदान की। रावण के अंतिम संस्कार की तैयारी की गयी। राम के आदेश से इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण आदि को बंधन मुक्त कर दिया गया तथा लंका को भयमुक्त कर दिया गया। फिर रावण का अंतिम संस्कार पूरे राजसम्मान के साथ किया गया।

सारा वातावरण शोक के स्थान पर वैराग्य से भर गया। इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण आदि ने अनन्तवीर्य केवली के समीप दीक्षा धारण कर ली। माता मंदोदरी आदि महासतियों ने अर्जिका के व्रत धारण कर लिये। श्रीराम आदि ने सभी मोक्षमार्गियों की अनुमोदना की। अन्त में, विभीषण को लंका राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ कर उसका राज्याभिषेक किया गया। इस प्रकार न्याय, नीति, वैराग्य आदि भावों से लंका का वातावरण बड़ा ही सुखमय बन पड़ा था।

बड़ी विडम्बना है ! श्रीराम ने तो रावण के प्रति शत्रुता को छोड़कर उसका उचित रीति से अन्तिम संस्कार करवाया था, परन्तु आज लोग दशहरा के दिन रावण का पुतला बनाकर उसे नयी-नयी तकनीक से जला रहे हैं। हिंसा और रौद्रध्यान से लोग अपनी दुर्गति की तैयारी कर रहे हैं। कुछ लोग रावण के पुतला-दहन की अनुमोदना करके पाप का संचय कर रहे हैं। परन्तु विचारणीय तथ्य तो यह है कि 'क्या पुतला-दहन करने वाले लोग रावण से श्रेष्ठ हैं ? क्या उन्हें यदि कोई सुंदर स्त्री एकांत में मिल जाये और उन्हें किसी तरह का भय न हो तो वे उस स्त्री के साथ कुकर्म या बलात्कार नहीं करेंगे ?'

अरे ! रावण ने तो अनंतवीर्य केवली के समक्ष यह प्रतिज्ञा की थी कि 'यदि कोई परस्त्री उसके साथ रमण नहीं करना चाहेगी तो वह उसे बलात् ग्रहण नहीं करेगा।' उसने मरणपर्यन्त अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी किया, परन्तु क्या हमने कभी ऐसी कोई प्रतिज्ञा की है और हममें क्या वैसी दृढ़ता है ?

अतः इन प्रश्नों पर गहराई से विचारकर हम हिंसक परम्परा का त्यागकर अहिंसा और न्याय-नीति के पथ की ओर अपने कदम बढ़ायें। हम श्रीराम के आदर्श पथ का अनुसरण करें। अपने जीवन को अहिंसा की सौरभ से सुरभित करें। हम भी इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण की तरह मोक्ष प्राप्त करें। महासती मंदोदरी के समान अर्जिका के व्रत लें और रावण की तरह आगामी भवों में तीर्थंकर पद प्राप्त करते हुए सिद्ध पद को प्राप्त करें। 'दूर भगावें बुरी रीतियाँ, सुखद रीति का करें प्रचार।' इस कथन को चरितार्थ करें।

आधार : आचार्य रविषेण रचित पद्मपुराण

20 सीता का वैराग्य एवं तपश्चर्या

महासती सीता की अग्नि परीक्षा सम्पन्न हुई। अग्निकुण्ड सीता के शील के प्रभाव से एवं देवकृत अतिशय से जलकुण्ड में परिवर्तित हो गया। दसों दिशाएँ सीता के जय-जयकार के नाद से गूँजने लगीं । सीता के शील के माहात्म्य के प्रकट होने पर राम भी प्रसन्न हुए और सीता से राजभवन चलने के लिए निवेदन करने लगे। परन्तु सीता का मन संसार, शरीर तथा भोगों से विरक्त हो चुका था। उन्होंने संसार की क्षणभंगुरता को देख लिया था; भोगों की असारता को पहचान लिया था, अतः शरीर से भिन्न आत्मा की साधना करने का मार्ग ही उन्हें श्रेयस्कर लगा।

सीता ने यह कहते हुए अपने केश उखाड़ कर राम को दे दिये कि 'अब तो मैं वह काम करूँगी, जिससे फिर स्त्री न होना पड़े।' सीता के केश देखकर राम मूर्छित हो गये। जब तक राम सचेत हुए, तब तक सीता ने 'पृथ्वीमति' आर्यिका से दीक्षा ले ली। सीता वस्त्र-मात्र परिग्रह को धारण करने वाली आर्यिका हो गयी। महाव्रतों के द्वारा जिसका शरीर पवित्र हो चुका था तथा जो महासंवेग को प्राप्त थी, ऐसी सीता मुनि-संघ के साथ उद्यान में चली गयी।

मूर्च्छा दूर होने पर राम जब सीता को खोजते हुए उद्यान पहुँचे तो वे क्रमशः सभी पूज्यपदों को पूजते हुए सीता के पास पहुँचे। उन्होंने देखा कि सीता यद्यपि बाह्य अलंकारों से रहित थी, तथापि वह सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। वे सोचने लगे कि 'कहाँ सीता का यह सुकोमल शरीर और कहाँ जिनेन्द्र भगवान का कठोर तप ? यह कैसे तप का भार वहन करेगी ?' यह सोचते हुए उनकी आँखों में आँसू उमड़ने लगे, परन्तु सकलभूषण केवली के वचनों का स्मरण कर उन्होंने अपने आँसू रोक लिये। मन को शान्त कर भक्ति और स्नेह के साथ उन्होंने सती सीता को प्रणाम किया और अयोध्या लौट गये।

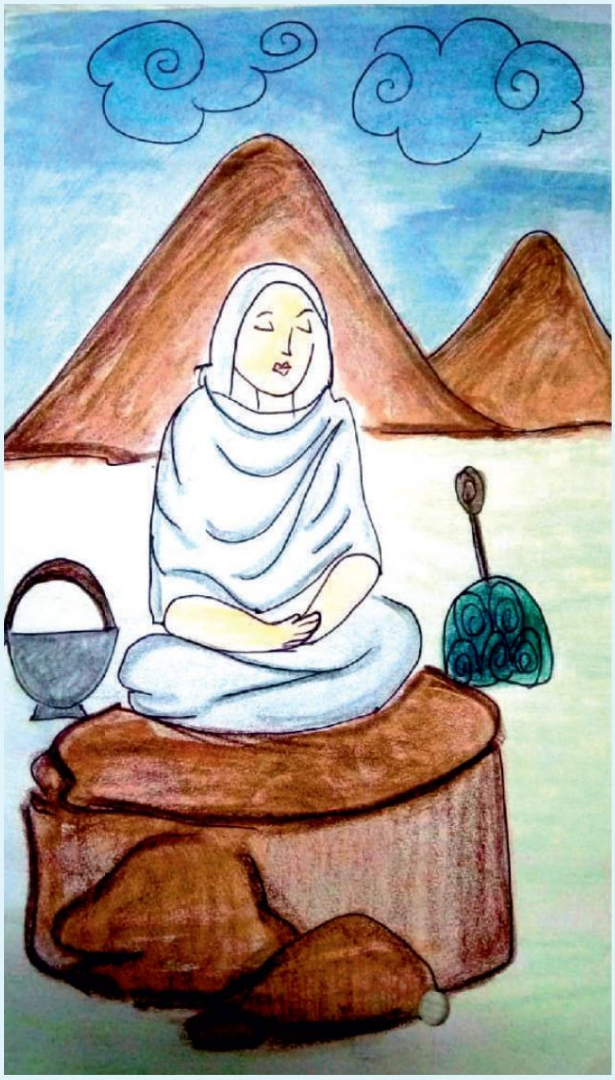

जो सीता देवांगनाओं की भी सुन्दरता को जीतती थी, वह तप से सूखकर ऐसी हो गयी, जैसे जली हुई माधवी लता हो। वह सदा महासंवेग से सहित तथा खोटे भावों से दूर रहती थी तथा स्त्री पर्याय को सदा अत्यन्त निन्दनीय समझती थी। पृथ्वी की धूलि से मलिन वस्त्र से जिसका वक्षस्थल तथा शिर के बाल सदा आच्छादित रहते थे। जो स्नान के अभाव में पसीना से उत्पन्न मैलरूपी कञ्चुक को धारण कर रही थी। जो चार दिन, एक पक्ष तथा ऋतुकाल आदि के बाद शास्त्रोक्त विधि से पारणा करती थी। शीलव्रत और मूलगुणों के पालन करने में तत्पर रहती थी, राग-द्वेष से रहित थी, अध्यात्म के चिन्तन में तत्पर रहती थी तथा अत्यन्त शान्त थी। जिसने अपने मन को अपने अधीन कर रखा था, जो अन्य मनुष्यों के लिए दुःसह अत्यन्त कठिन तप करती थी। जिसका समस्त शरीर माँस से रहित था, जिसकी हड्डी और आँतों का पञ्जर प्रकट दिख रहा था। जो पार्थिव तत्त्व से रहित लकड़ी आदि से बनी प्रतिमा के समान जान पड़ती थी। जिसके कपोल भीतर घुस गये थे, जो केवल त्वचा से आच्छादित थी, तथा उससे जो सूखी नदी के समान जान पड़ती थी। युग प्रमाण पृथ्वी पर जो अपनी सौम्यदृष्टि रखकर चलती थी। जो तप के कारण शरीर की रक्षा के लिए विधिपूर्वक भिक्षा ग्रहण करती थी। जो उत्तम चेष्टाओं से युक्त थी तथा तप के द्वारा इस प्रकार अन्यथाभाव को प्राप्त हो गयी थी कि विहार के समय उसे अपने-पराये लोग भी नहीं पहचान पाते थे। ऐसी उस सीता को देखकर लोग सदा उसी की कथा करते रहते थे। जो लोग उसे एक बार देखकर पुनः देखते थे, वे उसे 'यह वही है' इस प्रकार नहीं पहचान पाते थे।

इस प्रकार बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप कर तथा तैंतीस दिन की उत्तम सल्लेखना धारण कर उपभुक्त विस्तर के समान शरीर को छोड़कर वह आरण-अच्युत युगल में प्रतीन्द्र पद को प्राप्त हुई।

गौतम स्वामी कहते हैं कि 'अहो ! जिनशासन में धर्म का ऐसा माहात्म्य देखो कि यह जीव स्त्री पर्याय छोड़कर देवों का स्वामी पुरुष हो गया।'

आधार : आचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण

21 जिनशासन का प्रभाव : परस्त्रीगामी बना इन्द्र

अयोध्या नगरी में हेमनाभ नामक राजा राज्य करते थे। उनकी रानी थी अमरावती। रानी अमरावती के इस संसार में प्रसिद्ध मधु एवं कैटभ नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। दोनों भाई अजेय, सुन्दर तथा शत्रुओं के लिए यमराज के समान प्रतीत होते थे। जिस प्रकार विद्वान लोग अपनी बुद्धि को अपने अधीन कर लेते हैं, उसी प्रकार इन दोनों ने सामन्तों से भरी हुई इस पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया, किन्तु 'भीम' नाम का एक महा बलवान राजा उनकी आज्ञा नहीं मानता था।

सूचना मिलते ही क्रोध को प्राप्त हुआ राजा मधु, अपनी सारी सेना एवं योद्धाओं के साथ राजा भीम पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ा। क्रमशः आगे बढ़ता हुआ, वह न्यग्रोध नगर में पहुँचा। वहाँ उसका भक्त सामन्त वीरसेन रहता था। राजा मधु ने बड़े प्रेम के साथ उस नगर में प्रवेश किया। वहाँ पहुँचकर जगत के चन्द्रस्वरूप राजा मधु ने वीरसेन की 'चन्द्राभा' नाम की चन्द्रमुखी स्त्री देखी। उसे देखकर राजा मधु विचार करने लगा कि 'इसके साथ विन्ध्याचल के वन में निवास करना अच्छा है। इस चन्द्राभा के बिना मेरा राज्य अपूर्ण है।' ऐसा विचार करता हुआ राजा उससमय तो आगे चला गया और युद्ध में राजा भीम को जीतकर अन्य शत्रुओं को भी अपने वश में कर लिया, परन्तु यह सब करते हुए भी उसका मन उसी चन्द्राभा में लगा हुआ था।

उसने अयोध्या आकर सभी राजाओं को अपनी-अपनी पत्नियों के साथ बुलाया और उन्हें बहुत भारी भेंट देकर सम्मान के साथ विदा कर दिया। राजा वीरसेन को भी बुलाया था, इसलिए वह भी अपनी पत्नी चन्द्राभा के साथ शीघ्र ही गया। अयोध्या के बाहर बगीचे में सरयू नदी के तट पर ठहर गया तथा सम्मान के साथ बुलाये जाने पर उसने अपनी रानी के साथ राजा मधु के भवन में प्रवेश किया। कुछ समय बाद उसने विशेष भेंट के द्वारा सम्मान कर वीरसेन को तो विदा कर दिया और चन्द्राभा को उसकी इच्छा न होने पर भी उसे अपने अन्तःपुर (रनिवास) में भेज दिया, परन्तु भोला वीरसेन अब भी यह नहीं जान पाया कि उसकी सुन्दरी प्रिया यहाँ रोक ली गयी है।

राजा मधु ने राजा वीरसेन की पत्नी रानी चन्द्राभा को अनेक उपायों से अपने वश में कर लिया और सभी रानियों में प्रधान पटरानी के पद पर विराजमान कर दिया। भोगों से जिसका मन अन्धा हो रहा था, ऐसा राजा मधु लक्ष्मी के समान उस चन्द्राभा के साथ सुखरूपी सागर में निमग्न होता हुआ अपने आपको इन्द्र के समान मानने लगा।

इधर राजा वीरसेन को जब पता चला कि उसकी प्रिया हरी गयी है तो वह पागल बना, उसे यहाँ-वहाँ खोजने लगा, उसे कहीं भी अच्छा नहीं लगता था। अन्त में, मूर्ख मनुष्यों को आनन्द देने वाला राजा वीरसेन किसी मण्डव नामक तापस का शिष्य हो गया और मूर्ख मनुष्यों को आश्चर्य में डालता हुआ पंचाग्नि तप तपने लगा।

किसी दिन राजा मधु धर्मासन पर बैठकर मन्त्रियों के साथ राज्य कार्य का विचार कर रहा था। सो ठीक ही है, क्योंकि राजाओं के आचार से सम्पन्न सत्य ही हर्षदायक होता है। उस दिन राज्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण

धीर-वीर राजा अन्तःपुर में सूर्यास्त के समय पहुँचा। खेदखिन्न चन्द्राभा ने राजा से कहा कि '' नाथ ! आज इतनी देर क्यों लगा दी ? हम लोग भूख से अब तक पीड़ित होते रहे। राजा ने कहा कि '' यह परस्त्री सम्बन्धी व्यवहार (मुकदमा) टेढ़ा व्यवहार था, अतः बीच में छोड़ा नहीं जा सकता था, इसलिए आज देर हुई है।'' तब चन्द्राभा ने हँसकर कहा कि ''परस्त्री से प्रेम करने में दोष ही क्या है ? जिसे परस्त्री प्यारी है, उसकी तो इच्छानुसार पूजा करनी चाहिए।''

उसके उक्त वचन सुन राजा मधु ने क्रुद्ध होकर कहा कि '' जो दुष्ट परस्त्री-लम्पटी हैं, वे अवश्य ही दण्ड देने के योग्य हैं , इसमें संशय नहीं है। जो परस्त्री का स्पर्श करते हैं या उससे अभिप्रायभाव से वार्तालाप करते हैं, ऐसे दुष्ट नीच पुरुष दण्डित करने योग्य हैं तथा देश से निकालने के योग्य हैं, फिर जो पाप से निवृत्त नहीं होने वाले परस्त्रियों में अत्यन्त मोहित हैं अर्थात् परस्त्री का सेवन करते हैं, उनका तो नरक जाना निश्चित ही है, ऐसे लोग पूजा करने योग्य कैसे हो सकते हैं ?'' तभी कमललोचना देवी चन्द्राभा ने बीच में बात काटते हुए कहा कि ''अहो ! आप बड़े धर्मात्मा हैं ? तथा पृथ्वी का पालन करने में उद्यत हैं। यदि परदाराभिलाषी मनुष्यों का यह बड़ा भारी दोष माना जाता है तो हे राजन् ! अपने आपके लिए भी आप यह दण्ड क्यों नहीं देते ? परस्त्रीगामियों में प्रथम तो आप ही हैं, फिर दूसरों को दोष क्यों दिया जाता है, क्योंकि यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है कि 'जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है' जहाँ राजा स्वयं क्रूर एवं परस्त्रीगामी है, वहाँ व्यवहार-अभियोग देखने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? सर्वप्रथम आप स्वस्थता को प्राप्त होइये। जिससे अंकुरों की उत्पत्ति होती है तथा जो जगत को जीवन स्वरूप है, उस जल से भी यदि अग्नि उत्पन्न होती है, तब फिर और क्या कहा जाय ?'' इसप्रकार के वचन सुनकर राजा मधु निरुत्तर हो गया और 'इसी प्रकार है' यह वचन बार-बार चन्द्राभा से कहने लगा। इतना सब हुआ फिर भी ऐश्वर्यरूपी पाश से वेष्टित हुआ वह दुःखरूपी सागर से निकल नहीं सका। सो ठीक है, क्योंकि भोगों में आसक्त मनुष्य कर्म से छूटता नहीं है।

सम्यक्प्रबोध और सुख से सहित बहुत भारी समय बीत जाने के बाद एक बार महागुणों के धारक सिंहपाद नामक मुनि अयोध्या आये और वहाँ के अत्यन्त सुन्दर सहस्राभ वन में ठहर गये। अपनी पत्नी तथा अनुचरों से सहित राजा मधु उनके पास गया। विधिपूर्वक गुरु को प्रणाम कर वह पृथ्वीतल पर बैठ गया तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित धर्म श्रवणकर भोगों से विरक्त होकर मुनि हो गया। उच्च कुलीन तथा सौन्दर्य साम्राज्ञी राजपुत्री चन्द्राभा ने विशाल राज्य को दुर्गति की वेदना जान तत्काल छोड़ दिया। उधर मधु का भाई कैटभ भी ऐश्वर्य को चंचल जानकर मुनि हो गया। इसके बाद मुनिव्रतरूपी महाचर्या से उत्पन्न क्लेश को सहन करता हुआ मधु पृथ्वी पर विहार करने लगा। यहाँ स्वजन और परजन-सभी के नेत्रों को आनन्द देने वाला 'कुलवर्धन' नामक राजा मधु का पुत्र उसकी विशाल पृथ्वी और राज्य का पालन करने लगा। तथा महामनस्वी मधु मुनि सैकड़ों वर्षों तक अत्यन्त कठिन एवं उत्कृष्ट तपश्चरण करते रहे। आयु के अन्त में, समाधिपूर्वक मरण कर रण से रहित आरणाच्युत स्वर्ग में इन्द्रपद को प्राप्त हुए।

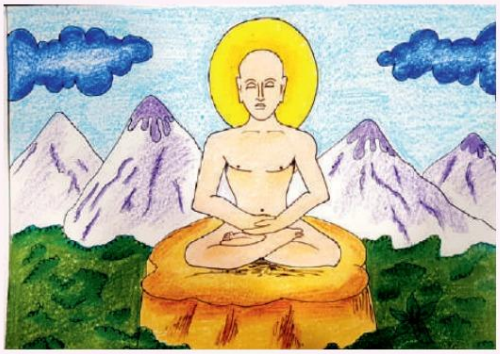

'अहो ! जिनशासन का प्रभाव आश्चर्यकारी है, क्योंकि जिनका पूर्व जीवन ऐसा निन्दनीय रहा, उन लोगों ने भी इन्द्रपद प्राप्त कर लिया अथवा इन्द्रपद प्राप्त कर लेने में क्या आश्चर्य है? क्योंकि प्रयत्न करने से तो मोक्षनगर तक पहुँच जाते हैं।'

मधु मुनिराज ने ऐसा महान तप किया कि वे इन्द्र पद को प्राप्त हुए और उन्होंने महासती सीता द्वारा महातप करके प्राप्त किये गये प्रतीन्द्र पद से भी श्रेष्ठ पद को प्राप्त किया तथा अगले भव में नारायण श्रीकृष्ण के पुत्र 'प्रद्युम्नकुमार' होकर महातप करके गिरनार गिरि की चौथी टोंक से सिद्ध पद की प्राप्ति की।

आधार : आचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण

22 भामण्डल की दानशीलता

भारतवर्ष में जब बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का शासनकाल प्रवर्त रहा था और आठवें बलभद्र श्रीराम, नारायण लक्ष्मण और महासती सीता भारतभूमि को अलंकृत कर रहे थे, तभी एक महापराक्रमी एवं दानवीर महापुरुष भी भारतभू की शोभा बढ़ा रहे थे, जिनका नाम है – भामण्डल।

भारतदेश की मिथिलापुरी में राजा जनक राज्य करते थे। उनकी महारानी ने युगल पुत्र–पुत्री को जन्म दिया। उनमें पुत्र का नाम था–भामण्डल एवं पुत्री का नाम – सीता। जन्म के तत्काल बाद ही भामण्डल के पूर्वभव का बैरी उन्हें हर कर ले गया। पश्चात् दयावश उसे जीवित तो छोड़ दिया , परन्तु जंगल में। वहाँ एक विद्याधर राजा उन्हें अपने देश में ले गये। वहाँ भामण्डल अनेक विद्याओं से सम्पन्न हो गये। कालान्तर में राजा जनक और सीता आदि से भामण्डल का मिलाप हुआ। उन्हें राजा जनक ने मिथिलापुरी का राज्य प्रदान कर दिया। पश्चात् श्रीरामचन्द्र के वनवास काल में जब सीता का हरण रावण ने कर लिया और राम–रावण का भयानक युद्ध हुआ, तब भामण्डल ने भी अपना महान पराक्रम प्रकट किया और अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अन्ततः रामचन्द्रजी की युद्ध में विजय हुई और वे पुनः अयोध्या पधारे। सभी अपने–अपने राज्य का संचालन राम–लक्ष्मण की आज्ञा से करने लगे।

एक दिन जनक के पुत्र भामण्डल अयोध्यापुरी की ओर जा रहे थे। उन्होंने तीन मुनिराजों को कठोर तपश्चरण करते हुए देखा। तीनों मुनिराजों में एक पिता थे तथा दो उनके पुत्र थे। जो पिता थे, वे पहले अयोध्यानगर के वैभवशाली 'वज्रांक' नामक सेठ थे और उनके पुत्रों का नाम अशोक और तिलक था।

सुकुमारी, शीलव्रती, महासती सीता को निर्वासित किये जाने की घटना सुनकर सेठ वज्रांक को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य हो गया और वे 'द्युति' नामक मुनिराज के समीप मुनि होकर तपश्चरण करने लगे, पश्चात् उनके दोनों पुत्र भी अपने पिता के वैराग्य भाव को देखकर स्वयं विरक्त होकर द्युति मुनिराज के पास ही दीक्षित हो गये।

आचार्य द्युति जब आयु पूर्ण कर ऊर्ध्व ग्रेवैयक में अहमिन्द्र हो गये, तब पिता एवं दोनों पुत्र – तीनों मुनिराज गुरु की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हुए जिनेन्द्र भगवान की वंदना करने के लिए ताम्रचूड़पुर की ओर चले। बीच में पचास योजन प्रमाण बालू का समुद्र अर्थात् रेगिस्तान मिला, अतः वे इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच पाये, बीच में ही वर्षाकाल (चातुर्मास) शुरु हो गया। अतः तीनों मुनिराज उसी रेगिस्तान में अत्यन्त दुर्लभ एक हरे–भरे वृक्ष के नीचे ठहर गये।

अयोध्या जाते हुए भामण्डल ने उन तीनों मुनिराजों को देखा। देखते ही इस पुण्यात्मा के मन में यह विचार आया कि 'ये मुनि, आचार की रक्षा के निमित्त इस निर्जन वन में ठहर गये हैं, परन्तु प्राण धारण करने के लिए आहार कहाँ करेंगे ?' ऐसा विचार कर सद्विद्या की उत्तम शक्ति से युक्त भामण्डल ने बिल्कुल पास में ही एक अत्यन्त सुन्दर नगर बसाया, जो सर्व सुविधाओं से सम्पन्न था। अपने स्वाभाविक रूप में स्थित होकर उसने विनयपूर्वक मुनियों

को नमस्कार किया। वह अपने परिजनों के साथ वहीं रहने लगा तथा योग्य देश, काल में दृष्टिगोचर हुए सत्पुरुषों को भावपूर्वक न्याय के साथ हर्ष सहित भोजन कराने लगा। इस निर्जन वन में जो मुनिराज थे, उन्हें तथा पृथ्वी पर उत्कृष्ट संयम को धारण करने वाले जो अन्य विपत्तिग्रस्त साधु थे, उन सबको वह आहार आदि देकर संतुष्ट करने लगा। मुक्ति की भावना रख पुण्यरूपी सागर में वाणिज्य करने वाले मनुष्यों के जो सेवक हैं, धर्मानुरागी भामण्डल को उन्हीं का दृष्टान्त देना चाहिए अर्थात् मुनि तो पुण्यरूपी सागर में वाणिज्य करने वाले हैं और भामण्डल उनके सेवक के समान हैं ।

किसी दिन भामण्डल उद्यान में गया था। अपनी मालिनी नामक स्त्री के साथ वह शय्या पर सुख से लेटा था। अचानक वज्रपात हो जाने से उन दोनों की मृत्यु हो गयी। मुनियों को आहारदान आदि से उत्पन्न पुण्य के प्रभाव से वह मेरु पर्वत के दक्षिण में विद्यमान देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में तीन पल्य की आयु वाला दिव्य लक्षणों से भूषित उत्तम आर्य हुआ।

उत्तम दीप्ति को धारण करने वाला वह आर्य, अपनी सुन्दर स्त्री आर्या (मालिनी) के साथ उस देवकुरु में महाविस्तार को प्राप्त हुए पात्रदान के फल का उपभोग कर रहा है।

जो शक्ति सम्पन्न मनुष्य, पात्रों के लिए अन्न देकर संतुष्ट करते हैं, वे भोगभूमि पाकर परम पद को प्राप्त होते हैं। भोगभूमि से च्युत हुए मनुष्य स्वर्ग में भोग भोगते हैं, क्योंकि वहाँ के मनुष्यों का यह स्वभाव ही है। यथार्थ में दान से भोग की संपदाएँ प्राप्त होती हैं। दान से सुख की प्राप्ति होती है और दान स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रधान कारण है।

यह कथा एक ओर दान के माहात्म्य को प्रकट करती है, तो दूसरी ओर उन पिता-पुत्र तीन मुनिराजों के महावैराग्य, साधना-आराधना, कठोर तपश्चर्या और महाविवेक को सूचित करती है। तीनों मुनिराजों की कथा पढ़कर मन में कुछ प्रश्न हिलोरें लेने लगते हैं कि आखिर मुनिराज चातुर्मास या वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाये या सूर्य अस्त होने लगे या अन्य कोई कारण उपस्थित हो जाये तो वहीं क्यों ठहर जाते हैं ? थोड़े तेज चलकर अपने इच्छित स्थान पर क्यों नहीं पहुँच जाते ? ऐसी निश्चिंतता, ऐसा धैर्य, ऐसी निर्वांछकचर्या, ऐसा आत्मबल आखिर कैसे ? विचार करने पर समाधान प्राप्त होता है कि मुनिराज को वहाँ पहुँचने की जल्दी इसलिए नहीं है, क्योंकि वहाँ पहुँच कर भी वही करना है, जो यहीं किया जा सकता है। उन्हें तो एक निजचैतन्य में ही स्थित होना है, निज को ही साधना है, आत्माश्रित सुखामृत का ही पान करना है, अतः वह कार्य यहीं बैठकर भी किया जा सकता है।

हम भी इस कहानी से प्रेरणा प्राप्तकर हर्षित भाव से दान दें, साथ ही मुनिराजों से प्रेरणा लेकर हर वक्त, हर परिस्थिति में, कहीं भी और कभी भी एक निज चैतन्य आत्मा का ध्यान करें, उसी में जम जायें, उसी में समा जायें एवं परमात्म सुख का रसास्वादन करें।

आधार : आचार्य रविषेण द्वारा रचित पद्मपुराण

23 विद्यारम्भ की कथा

(यह जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र का आर्य खण्ड है। यहाँ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का चक्र अनादिकाल से चलता आ रहा है। अभी यहाँ अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसके प्रारम्भिक तीन कालों में भोगभूमि थी। सभी नर-नारी देवतुल्य सभ्य, सुसंस्कृत एवं विद्वान् थे, अतः उन्हें किसी तरह की शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं थी। फिर कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। प्राणियों को जीवनयापन के लिए कर्म करना आवश्यक हो गया। कर्म के साथ-साथ कुकर्म भी प्रारम्भ हो गये, अतः कर्म के साथ सत्कर्म की शिक्षा देना भी आवश्यक हो गया। तब इस युग के आदि में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ।)

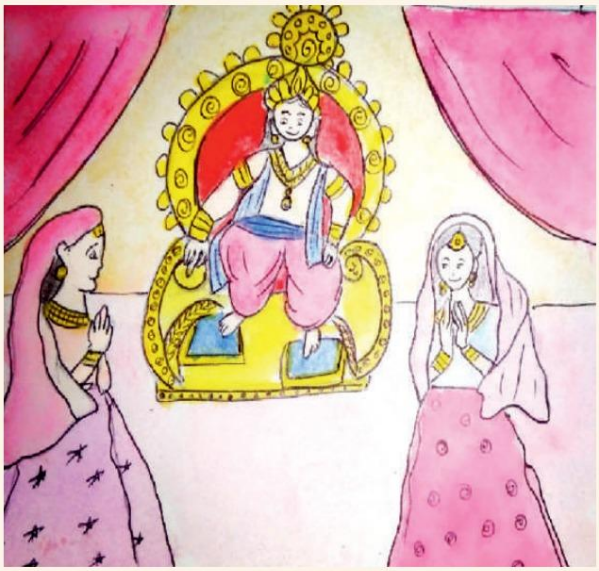

राजा ऋषभदेव सिंहासन पर आराम से बैठे हुए थे। उनके मन में कला एवं विद्या का उपदेश देने का विचार आया। उसी समय उनकी ब्राह्मी एवं सुन्दरी नामक पुत्रियाँ मांगलिक वेष-भूषा धारण कर उनके निकट पहुँचीं। वे दोनों सुन्दर, सुशील, बुद्धिमती, विनीत, रूपवती, शुभ लक्षणों से युक्त एवं मानिनी स्त्रियों के द्वारा भी प्रशंसनीय थीं।

उन दोनों कन्याओं ने विनयपूर्वक आद्यगुरु अपने पिता ऋषभदेव को प्रणाम किया। ऋषभदेव ने नमस्कार करती हुई उन दोनों पुत्रियों को उठाकर बड़े प्रेम से अपनी गोद में बैठाया; उनके सिर पर हाथ फेरा, उनका मस्तक चूमा और बहुत दुलार किया। इसप्रकार ऋषभदेव अपनी पुत्रियों के साथ थोड़ी देर हँसने-खेलने के बाद उनसे बोले कि ''तुम दोनों शील और विनय गुण में सर्वोत्तम हो। तुम दोनों का यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपमशील यदि विद्या से विभूषित किया जाये तो तुम दोनों का यह जन्म सफल हो सकता है।

इस लोक में विद्यावान पुरुष पण्डितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है। विद्या ही मनुष्यों का यश एवं कल्याण करने वाली है, अच्छी तरह से आराधना की गयी विद्या ही सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली है। विद्या ही कामधेनु व चिन्तामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ तथा कामरूप फल से सहित सम्पदाओं की परम्परा उत्पन्न करती है। विद्या ही बन्धु एवं मित्र है, विद्या ही साथ-साथ जाने वाला धन है और सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। इसलिए हे पुत्रियो ! तुम दोनों विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो, क्योंकि तुम्हारे विद्या ग्रहण करने का यही उचित काल है।''

ऋषभदेव ने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता को आदरपूर्वक स्वर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से अ, आ आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें अक्षरों को लिखना सिखाया और अनुक्रम से इकाई, दहाई आदि अंकों के द्वारा उन्हें संख्या सम्बन्धी शिक्षा प्रदान की। ऐसी प्रसिद्धि है कि ऋषभदेव ने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बायें हाथ से संख्या लिखी थी। बुद्धिमती ब्राह्मी ने वर्णमाला तथा सुन्दरी ने गणितशास्त्र की शिक्षा अच्छी तरह प्राप्त की। व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र-इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं। वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है, अतः उन कन्याओं ने

सरस्वती देवी के समान अपने पिता के मुख से संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शब्द तथा अर्थरूप समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया। अपने पिता अथवा गुरु के अनुग्रह से उन्होंने समस्त विद्याएँ और कलाएँ अच्छी तरह सीख लीं, जिससे वे इतनी अधिक ज्ञानवती हो गयीं कि मानो वे स्वयं ही सरस्वती के रूप में अवतरित हो गयी हों।

जगद्गुरु ऋषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत, बाहुबली आदि पुत्रों को भी अर्थशास्त्र, नृत्यशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र, वास्तुशास्त्र, कामनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा, चित्रकला आदि सम्बन्धी बड़े-बड़े शास्त्र सिखाये। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है ? संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है कि लोक का उपकार करने वाले जो-जो शास्त्र थे, वे सभी शास्त्र आदिनाथ ने अपने पुत्रों को सिखाये थे।

अपनी समस्त विद्याओं को प्रकाशित करने वाले तथा उन समस्त विद्याओं को अच्छी तरह ग्रहण करने वाले अपने पुत्र-पुत्रियों के साथ जगद्गुरु ऋषभदेव उससमय, उसीप्रकार सुशोभित हो रहे थे, जिसप्रकार शरद् ऋतु में अधिक कान्ति को प्राप्त होने वाला सूर्य अपनी किरणों से सुशोभित होता है।

जब कल्पवृक्ष विलीन हो गये और उनकी प्रजा पापरहित जीवकोपार्जन के लिए व्याकुल हो उठी, तब प्रजा के निवेदन पर जगदगुरु ऋषभदेव ने उन्हें असि,मषि,कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प-इन छह कर्मों का उपदेश दिया। साथ ही अन्य भी अनेक तरह की

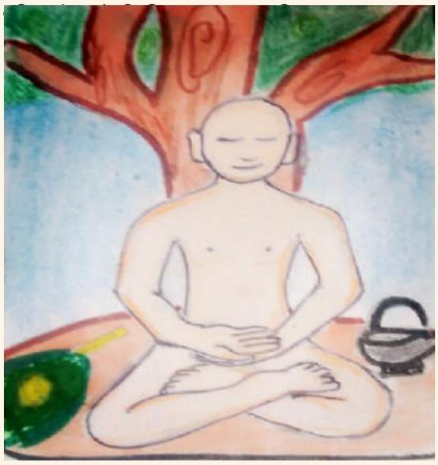

जब प्रभु संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो, गृहस्थ अवस्था त्यागकर मुनि हो गये और लगातार आत्मसाधना कर उन्हें केवलज्ञान हो गया, तब समवशरण में देव, मनुष्य और पशुओं को भी संसार के दुःख से छुड़ाकर मोक्ष के उत्तम सुख को देने वाले वीतराग धर्म का, मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। जिससे अनेक भव्य जीवों ने स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त किया।

इस प्रकार कर्म और धर्म- दोनों का उपदेश आदिनाथ स्वामी ने क्रमशः सराग और वीतराग दशा में इस युग के आदि में प्रदान किया तथा आदिगुरु, जगद्गुरु के रूप में शिक्षा-व्यवस्था का शंखनाद किया।

आधार : आचार्य जिनसेन स्वामी कृत आदिपुराण

24 सिंह से सिद्धत्व की ओर
(भरत चक्रवर्ती के पूर्वभव)

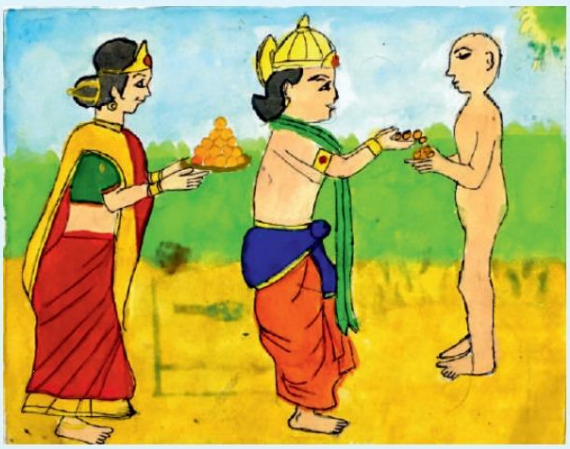

जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी है। उसके समीप एक महापर्वत है। पर्वत पर घना जंगल है। उस जंगल में एक भयानक सिंह रहता था। जंगली जानवर और शिकारी भी उसकी आवाज सुनकर सिहर उठते थे। उसका आतंक सर्वत्र व्याप्त था।

एक बार प्रभाकरी नगरी का राजा प्रीतिवर्धन उसी पर्वत पर वनविहार के लिए आया। तभी पिहितास्रव नामक मुनिराज आहार के लिए निकले। राजा ने मुनिराज का पड़गाहन किया। मुनिराज का आहार निरन्तराय सम्पन्न हुआ। मुनिराज के प्रभाव से देवों ने पंचाश्चर्य प्रगट किये। देवों के 'अहो दानम्, अहो पात्रम्' और जय-जयकार के नाद से सारा पर्वत गूँज उठा। देवों ने रत्नवृष्टि एवं पुष्पवृष्टि की तथा दुंदुभियाँ बजायीं। सम्पूर्ण वन का वातावरण सुहावना हो गया। यह महोत्सव देखकर सिंह का मन शांत हो गया तथा उसे जातिस्मरण ज्ञान प्रगट हो गया।

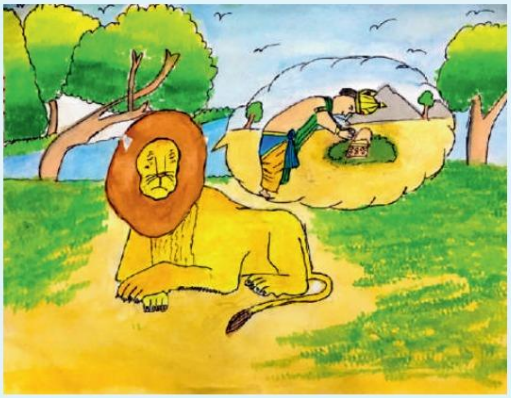

जातिस्मरण ज्ञान में सिंह को अपने पूर्वभव ज्ञात होने लगे। उसने जान लिया कि वह पूर्व के तीसरे भव में इसी नगरी का राजा था। अतिगृद्ध उसका नाम था। वह अपने राज्य, वैभव, धन-सम्पदा में अति आसक्त रहता था। उसने अपने हीरे-जवाहरात आदि बहुमूल्य रत्न इसी पर्वत पर गाड़ रखे थे तथा वह निरंतर उसकी संभाल किया करता था। बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के परिणाम से तथा अनवरत परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान में मग्न रहने से वह राजा अपने पाप कर्मों का फल भुगतने के लिए महाभयंकर तथा अनन्त दुखदायी 'पंकप्रभा' नामक चौथे नरक में जा गिरा। दश सागर पर्यन्त दुःख भोगकर वहाँ से निकला और उसी पर्वत पर सिंह पर्याय में जन्म लिया। देखो अति आसक्ति का फल! जिस धन में आसक्त होकर राजा नरक गया। नरक के दुःख भोगकर भी उसी पर्वत पर जन्मा, जहाँ पूर्व पर्याय में धन गाड़ा था।

अपने पूर्वभवों का स्मरणकर वह सिंह पापकर्मों के फल से तथा संसार-परिभ्रमण से अत्यन्त भयभीत हो गया। परिणामस्वरूप उसने अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए आहार-पानी का त्याग कर दिया। उसकी क्रूरता समाप्त हो गयी। उसकी शान्तिपूर्ण चर्या से प्रभावित होकर जंगल के पशु-पक्षी निर्भय होकर उसके समीप बैठने लगे। जंगल का वातावरण शान्तिपूर्ण एवं भयमुक्त हो गया।

पिहितास्रव मुनिराज ने राजा प्रीतिवर्धन को सिंह के पूर्वभव एवं वर्तमान विरक्ति का उपर्युक्त सारा वृत्तान्त सुनाया और राजा के साथ स्वयं सिंह के करीब आये। मुनिराज ने सिंह को पंचनमस्कार मंत्र सुनाया एवं राजा ने सिंह का समाधिमरण कराया। सिंह अठारहवें दिन समाधिपूर्वक मरण कर दूसरे स्वर्ग में देव हुआ।

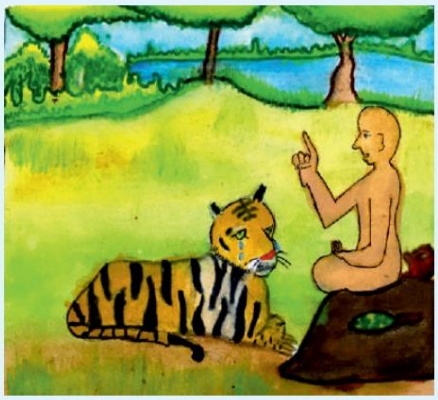

देवगति के सुख भोगकर, भगवान ऋषभदेव के पूर्व के राजा वज्रजंघ के भव में उनका 'मतिवर' नाम का महामंत्री हुआ। जब राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती ने दमधर और सागरसेन नामक मुनिराजों को आहार प्रदान किया, तब अन्य जीवों के साथ मतिवर महामंत्री ने भी आहार-दान की अनुमोदना की। कुछ दिनों पश्चात् राजा-रानी की धूपदान के धुएँ में घुटकर मृत्यु हो गयी। यह दुःखद समाचार सुनकर मतिवर मंत्री संसार से विरक्त हो गया। विरक्त होकर वह दृढ़धर्म मुनिराज के पास गया। मुनिराज के उपदेश से उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो गया। उसने जिनदीक्षा लेकर महान-आत्मसाधना की तथा आयु के अन्त में समाधिमरण कर प्रथम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ।

जब भगवान ऋषभदेव पूर्व के तीसरे भव में वज्रनाभि चक्रवर्ती थे, तब सिंह का जीव ग्रैवेयक की आयु पूर्ण कर उनका 'सुबाहु' नाम का भाई हुआ। इस भव में भी चक्रवर्ती एवं अन्य भाइयों के साथ जिनदीक्षा लेकर उसने महान तप किया तथा अन्य मुनिराजों के साथ वह भी सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ। सर्वार्थसिद्धि की तैंतीस सागर की आयु पूर्ण कर वह इस युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का प्रथम पुत्र एवं प्रथम चक्रवर्ती हुआ। जिसका नाम था - 'भरत'।

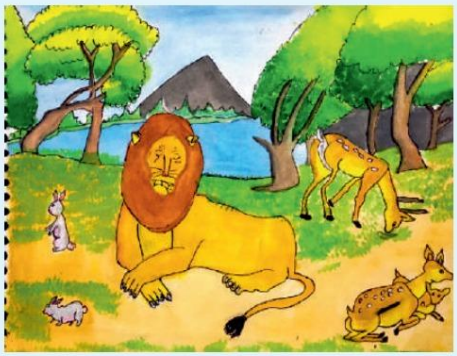

भरत चक्रवर्ती के विशद जीवन चरित्र से शायद ही कोई अपरिचित हो। जिनके नाम से इस देश का नाम 'भारत' है। जिनका छह खण्ड का विशाल वैभव और उस वैभव से विरक्ति तथा निज चैतन्य-वैभव में अनुरक्ति जगत में विख्यात है। पूर्व जन्मों एवं गृहस्थ जीवन में की गयी साधना का फल ही था कि भरत दीक्षा लेते ही आत्मस्वरूप में ऐसे तल्लीन हुए कि उन्हें अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया, फिर वर्षों केवली अवस्था में आकाश में विहार करते हुए संसार-सागर से मुक्त हो गये।

देखो ! जिस जीव ने 'राजा अतिगृद्ध' के भव में धन-सम्पदा में अति आसक्त होकर सागरों पर्यंत नरक के दुःख भोगे, उसी जीव ने 'सिंह' की पर्याय में जैनत्व के संस्कार प्राप्त कर 'मतिवर' के भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया और संसार-वैभव एवं भोगों से विरक्त होकर जिनदीक्षा लेकर तप किया। फिर ग्रैवेयक से लौटकर 'सुबाहु' के भव में आत्मसाधना की और सर्वार्थसिद्धि गये, वहाँ से पुनः मनुष्य भव धारण कर 'भरत चक्रवर्ती' हुए, परन्तु बाह्य वैभव एवं भोगों में मस्त न होकर उन्होंने पुनः आत्म-साधना की और मोक्षसुख प्राप्त किया।

जब हम भरत चक्रवर्ती के सम्पूर्ण जीवनचरित्र का आकलन करते हैं तो हम पाते हैं कि धन-वैभव और विषय-भोगों की तरफ दौड़ने से तथा परिग्रह में गृद्धता से अतिगृद्ध राजा की तरह नरकों के दुःख ही प्राप्त होते हैं। मोक्षमार्ग का पथिक पुण्य से प्राप्त वैभव में न फँसकर आत्म-वैभव की सँभाल करता है और निज स्वरूप की साधना द्वारा मोक्षसुख प्राप्त करता है।

हम भी इसी भव से मोक्ष की यात्रा प्रारम्भ करें और तत्त्वनिर्णय के निरंतर पुरुषार्थ द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त कर मोक्षमार्ग में पहला कदम रखें।

आधार : आचार्य जिनसेन रचित आदिपुराण

25 तीर्थंकर अजितनाथ

इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के मोक्ष चले जाने के पचास लाख करोड़ सागर वर्ष बीत जाने के बाद इस भारतभूमि पर दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का जन्म हुआ। वे तीर्थंकर तो बाद में बने, उसके पहले के तीसरे भव में उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। वे जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र के वत्स देश के सुसीमा नगर के राजा थे। उनका नाम था विमलवाहन। वे बड़े ही प्रभावशाली थे। संसार में यह न्याय प्रसिद्ध है कि गुणों की चाह रखने वाले मनुष्य गुणों की खोज करते हैं। परन्तु यह आश्चर्य की बात थी कि स्नेह से भरे हुए सभी गुण अपने आप ही आकर उनमें रहने लगे थे। वे उत्साह, मंत्र और फल- इन तीन शक्तियों और इन्हीं तीन सिद्धियों से सहित, आलस्य से रहित थे और अपनी संतान के समान न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। 'धर्म से पुण्य, पुण्य से अर्थ (धन) और अर्थ से काम (भोग) की प्राप्ति होती है, पुण्य के बिना अर्थ और काम नहीं मिलते हैं, यही सोचकर वे जैनधर्म के द्वारा सच्चे धर्मात्मा हो गये थे।

किसी दिन वे संसार से विरक्त हो मन-ही-मन एकान्त में विचार करने लगे कि 'यह जीव आयुकर्म से इस शरीर में रह रहा है और वह आयुकर्म शीघ्र ही घटता जा रहा है, इसलिए आयु समाप्त होने के पहले ही मैं स्वर्ग-मोक्ष के कारणभूत जैनधर्म में उत्साह के साथ प्रवृत्ति करूँगा।'

आशा के बंधन को तोड़कर राज्यलक्ष्मी से निस्पृह हो, उन्होंने अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने बहुत समय तक कठोर तपश्चरण किया, जिससे उन्हें ग्यारह अंगों का स्पष्ट ज्ञान हो गया, उनकी आत्मा पुण्य के प्रकाश से जगमगा उठी और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं के चिन्तन में निरन्तर तत्पर रहने से उन्हें तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म का बंध हो गया। इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले वे विमलवाहन मुनिराज आयु के अन्त समय में पंचपरमेष्ठियों का ध्यान करते हुए समाधिपूर्वक मरण कर तैंतीस सागर की आयु के धारक हो, विजय नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए।

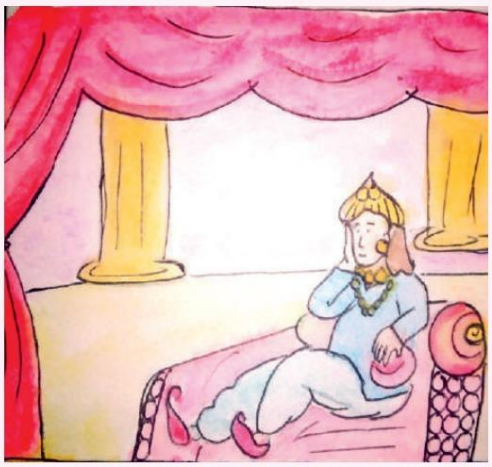

वहाँ वे द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ल लेश्याओं से सहित, समचतुरस्रसंस्थान से युक्त, एक हाथ ऊँचे, शुभ शरीर को लेकर उत्पन्न हुए थे। वे सोलह महीने और पंद्रह दिन बाद उच्छवास तथा तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेते थे। वे अपने अवधिज्ञान से लोकनाड़ी (त्रसनाड़ी) के रूपी पदार्थों को जान लेते थे तथा लोकनाड़ी को उखाड़कर दूसरी जगह रख

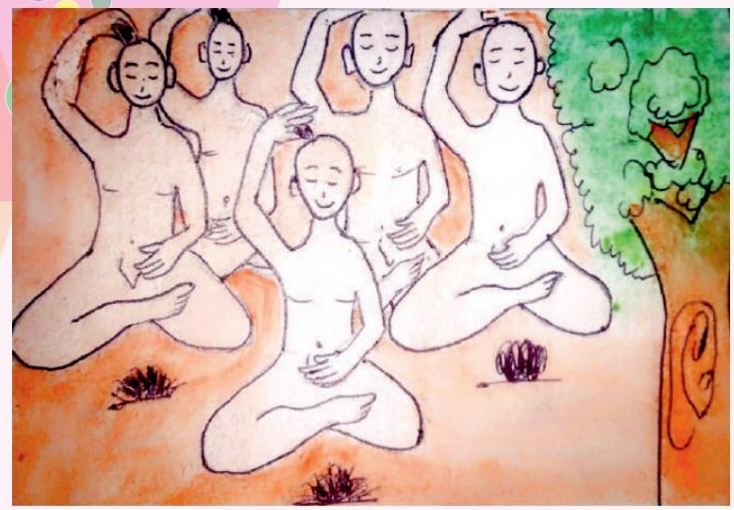

सकते थे एवं उतने ही क्षेत्र में अपने शरीर की विक्रिया भी कर सकते थे। वे सुखस्वरूप पंचेन्द्रियों के द्वारा प्रवीचारजन्य सुख से भी अनन्तगुणा अधिक अप्रवीचार सुख का उपभोग करते थे। वे कभी तो अन्य अहमिन्द्रों के साथ तत्त्वचर्चा करते, कभी जिनमंदिर जाते तो कभी नन्दनवन आदि में विहार करते थे।

जब उन महाभाग के स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतार लेने के छह माह शेष थे, तब से तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की अयोध्या नाम की नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु के घर में प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा प्रारम्भ कर दी।

जेठ मास की अमावस के दिन ब्रह्ममुहूर्त के पहले महारानी विजयसेना ने सोलह स्वप्न देखे। स्वप्न देखने के बाद उन्होंने अपने मुखकमल में एक मदोन्मत हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। सुबह होते ही महारानी ने जितशत्रु महाराज से स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अपने देशावधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर बताया कि महारानी के निर्मल गर्भ में विजयविमान से तीर्थंकर पुत्र अवतीर्ण हुआ है।

जिस प्रकार नीति, महान अभ्युदय को जन्म देती है, उसीप्रकार महारानी विजयसेना ने माघ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि में तीर्थंकर पुत्र को जन्म दिया। जन्म होते ही देवों ने तीर्थंकर भगवान का मेरुपर्वत पर अभिषेक किया और अजितनाथ नाम रखा। अजितनाथ तीर्थंकर की आयु बहत्तर लाख पूर्व की थी, शरीर की ऊँचाई चार सौ पचास धनुष थी और शरीर का रंग स्वर्ण के समान पीला था। उन्होंने अपने जीवन का बहुभाग प्रशंसनीय भोगों के अनुभव में व्यतीत कर दिया।

किसी समय अजितनाथ स्वामी महल की छत पर सुख से विराजमान थे कि उन्होंने बड़ी भारी उल्का को गिरते हुए देखा। उल्कापात देखते ही उन्हें संसार, शरीर और भोगों की अस्थिरता का भान हुआ। ज्ञानियों में श्रेष्ठ अजितनाथ स्वामी उसी समय विषयों से विरक्त हो गये। सो ठीक ही है, क्योंकि जिन्हें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होनेवाला है, उन्हें लक्ष्मी को छोड़ने के लिए कौन-सा कारण नहीं मिल जाता ? उसीसमय लौकान्तिक देवों ने आकर प्रभु के वैराग्य की अनुमोदना की। प्रभु का वैराग्य पुष्ट होने पर उन्होंने जूठन के समान विवेकी मनुष्यों के द्वारा छोड़ने योग्य राज्य, राज्याभिषेक पूर्वक अपने पुत्र अजितसेन को दे दिया। देवों ने उनका दीक्षाकल्याणक संबंधी महाभिषेक किया। वे सुप्रभा पालकी पर आरुढ़ हो सहेतुक वन की ओर चल दिये। उन्होंने सप्तवर्ण वृक्ष के समीप जाकर सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और वे चार ज्ञान के धारी हो गये।

दो दिन के उपवास के बाद मुनिराज दानियों को अपूर्व आनन्द उपजाते हुए साकेत नगरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ ब्रह्मा नामक राजा ने उन्हें आहारदान देकर अपूर्व पुण्य को उपार्जित किया और पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

शुद्धज्ञान के धारक भगवान ने बारह वर्ष तपश्चरण करके केवलज्ञान प्राप्त किया। वे सर्वज्ञ हो गये। बारह सभाओं से युक्त महान वैभवशाली समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने आत्महितकारी धर्मोपदेश से भव्य जीवों का महान हित किया। प्रभु ने संसार व संसार के कारण तथा मोक्ष और मोक्ष के उपाय का विस्तार से वर्णन किया।

प्रभु अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त थे। उन्होंने चार घातिया कर्मों का क्षय तो कर ही दिया था तथा चार अघातिया कर्मों का क्षय करने के लिए समस्त आर्यक्षेत्र में विहार करते हुए अन्त में सम्मेदाचल पर आरुढ़ हुए। उन्होंने दिव्यध्वनि छोड़कर एक माह तक वहीं स्थिर होकर निवास किया। फिर सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और पश्चात् व्युपरत-क्रियानिवर्तीनि नामक शुक्लध्यान के बल से सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर चैत्र शुक्ल पंचमी के दिन प्रातःकाल के समय मुक्ति पद प्राप्त किया।

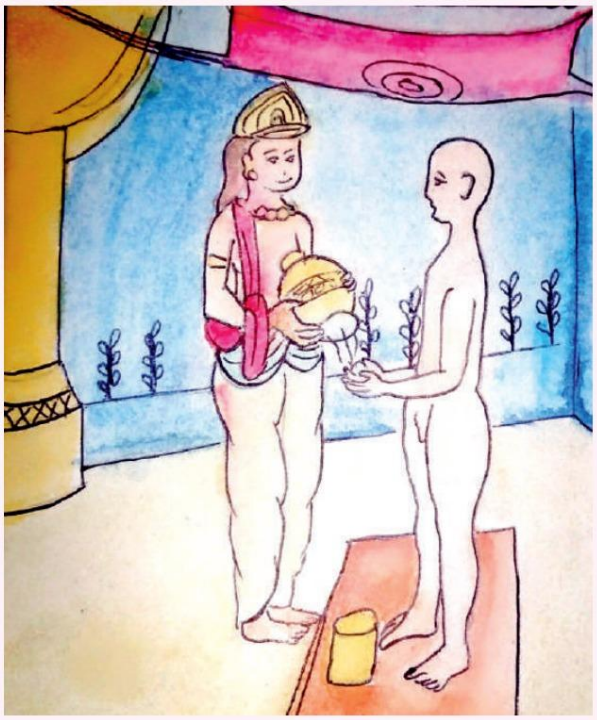

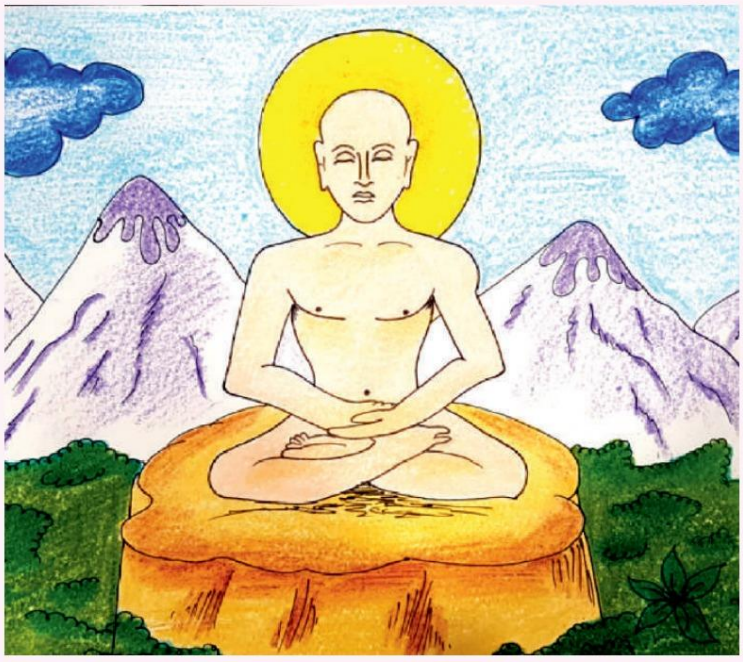

जो पहले 'विमलवाहन' भव में युद्ध के समय दुर्जेय रहे, फिर पापनाशक तपश्चरण में उद्यत रहे, उसके बाद विजय विमान में सुख के भण्डार स्वरूप श्रेष्ठ देव हुए, उन अजित जिनेन्द्र को हे भव्यजीवो ! नमस्कार करो। चूँकि धर्म सोलह कारण भावनाओं से तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति को उत्पन्न करता है; श्रेष्ठ ध्यान के प्रभाव से दुष्ट कर्मों के समूह को नष्ट कर देता है; स्वयं निर्मल है, सुख की परंपरा को करनेवाला है और नित्य मोक्षसुख को देता है, इसलिए शुद्ध तथा आप्तोपज्ञ धर्म की; हे विद्वज्जनो ! मदरहित होकर उपासना करो।

आधार :- आचार्य गुणभद्र स्वामी रचित उत्तरपुराण

26 सच्चा मित्र : सगर चक्रवर्ती एवं मणिकेतु देव

भारत देश में इस युग में क्रमशः बारह चक्रवर्ती सम्राट हुए। हमारे देश का नाम भी प्रथम चक्रवर्ती भरत के नाम से 'भारत' प्रसिद्ध हुआ। इस देश में दूसरे चक्रवर्ती हुए – सगर।

वे चक्रवर्ती तो बाद में हुए; पूर्व के तीसरे भव में जयसेन नाम के राजा हुए। एक दिन राजा जयसेन के पुत्र रतिषेण की मृत्यु हो गयी, जिससे वे संसार से विरक्त हो गये। उन्होंने अपने दूसरे पुत्र धृतिषेण को राज्य देकर समस्त परिग्रह को पुराने पत्तों के समान त्यागकर यशोधर गुरु के पास जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली। मुनिराज जयसेन ने शुद्ध मोक्षमार्ग की महान साधना की और आयु के अन्तिम क्षणों में संन्यासमरण कर अंतिम अच्युत स्वर्ग में 'महाबल' नाम के सौभाग्यशाली देव हुए। राजा जयसेन का साला महारुत भी संसार से विरक्त हो, दीक्षित हुआ और उसने भी महान तपश्चरण के द्वारा उसी स्वर्ग में देवत्व प्राप्त किया। उसका नाम था – मणिकेतु।

स्वर्ग में दोनों देवों में परस्पर प्रतिज्ञा हुई कि उन दोनों में से जो पहले पृथ्वी लोक में जन्म लेगा, दूसरा देव उसे समझाने वाला होगा – संसार का स्वरूप समझाकर दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा। महाबल देव अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर पर्यन्त देवों के सुख भोगकर कौशल देश की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा समुद्रविजय और रानी सुबाला के 'सगर' नाम का पुत्र हुआ। सगर कालान्तर में सौभाग्यशाली चक्रवर्ती सम्राट हुआ। सगर चक्रवर्ती के उसकी छियानवे हजार रानियों से साठ हजार पुत्र उत्पन्न हुए। वे पुत्र उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे थे।

किसी समय ऋद्धिवन में श्रीचतुर्मुख नाम के मुनिराज पधारे थे और उसीसमय उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उनके ज्ञान कल्याणक महोत्सव में अन्य देव तथा इन्द्रों के साथ मणिकेतु देव भी आया था। वहाँ आकर उसने जाना कि उसका महाबल नामक मित्र सगर नाम का चक्रवर्ती हुआ है। उसने चक्रवर्ती के विशाल भोग भोगते–भोगते चिरकाल व्यतीत कर दिया है। उसे संसार से विरक्ति की भावना जागृत नहीं हो रही है। तभी उसे परस्पर हुई प्रतिज्ञा का स्मरण आया और वह सगर चक्रवर्ती को संबोधित करने के लिए उसके पास पहुँचा। वह कहने लगा कि ' क्या तुम्हें स्मरण है कि हम दोनों अच्युत स्वर्ग में कहा करते थे कि हम दोनों में से जो पहले पृथ्वी पर जन्म लेगा, उसे देव पर्याय में रहने वाला साथी समझायेगा ? हे भव्य ! मनुष्य–जन्म के सारभूत साम्राज्य का तू चिरकाल तक उपभोग कर चुका है। अब सर्प के फणों के समान भय उत्पन्न करने वाले इन भोगों से क्या लाभ है ? हे राजन् ! अब मुक्ति के लिए प्रयत्न (उद्योग/उपाय) करो। मणिकेतु के इतना कहने पर भी वह चक्रवर्ती इससे विमुख रहा, सो ठीक ही है, क्योंकि मुक्ति का मार्ग काललब्धि के बिना कहाँ से मिल सकता है ? सगर चक्रवर्ती की विमुखता जान मणिकेतु देव अन्य वार्तालाप कर वापस लौट गया। सो उचित ही है, क्योंकि अनुक्रम को जानने वाले पुरुष अहित की बात तो जाने दो, हित के लिए भी किसी की इच्छा के विरुद्ध काम नहीं करते। वह विचार करने लगा कि 'इन भोगों को धिक्कार है !

ये मनुष्यों को अपने कहे हुए वचनों से च्युत करा देते हैं, पाप उत्पन्न करने वाले हैं और बड़ी कठिनाई से छोड़े जाते हैं – इसतरह निर्वेद को प्राप्त होता हुआ मणिकेतु देव स्वर्ग चला गया।

कुछ समय बाद मणिकेतु देव राजा को तप ग्रहण कराने का एक दूसरा उपाय सोचकर पृथ्वी पर आया। उसने चारणऋद्धिधारी मुनि का रूप बनाया और सगर चक्रवर्ती के चैत्यालय में जिनेन्द्र भगवान की वंदना कर वहीं ठहर गया। उस चारण मुनि को देख चक्रवर्ती को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि 'आपने इस युवावस्था में यह तप क्यों धारण किया है ? तब मुनि वेष में मणिकेतु ने कहा – 'यह यौवन बुढ़ापे के द्वारा ग्रसने योग्य है। आयु प्रतिक्षण कम हो रही है , यह शरीर दुःखों का पात्र है, अतः छोड़ने योग्य है। सदा अनिष्ट वस्तुओं का संयोग एवं इष्ट का वियोग होता रहता है। यह संसाररूपी भँवर अनादिकाल से घूम रही है, फिर भी अनन्त ही बनी हुई है। जीव की यह दशा कर्मरूपी शत्रुओं के द्वारा की जा रही है, अतः मैं तपरूपी अग्नि के द्वारा उन कर्म शत्रुओं को जलाकर स्वर्ण–पाषाण के समान अविनाशी शुद्धि को प्राप्त होऊँगा, मोक्ष प्राप्त करूँगा।'

मणिकेतु के इस प्रकार कहने पर वह चक्रवर्ती संसार से भयभीत तो हुआ, परन्तु मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं कर सका, क्योंकि वह पुत्ररूपी साँकलों से मजबूती से बँधा हुआ था। अभी इसका संसार बहुत बड़ा है। इसप्रकार विषाद करता हुआ मणिकेतु चला गया, सो ठीक ही है, क्योंकि निष्फल उपाय किस बुद्धिमान को विषाद पैदा नहीं करता ? वह देव सोचने लगा कि 'देखो, साम्राज्य की तुच्छ लक्ष्मी के वशीभूत हुए चक्रवर्ती ने अच्युत स्वर्ग की लक्ष्मी भुला दी, सो ठीक ही है, क्योंकि कामी मनुष्यों को अच्छे–बुरे पदार्थों के अन्तर का ज्ञान कहाँ होता है ? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह चक्रवर्ती सब लाभों में पुत्र–लाभ को ही लाभ मानता है, स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मी का लाभ इसके लिए कोई लाभ नहीं है – ऐसा समकर ही यह पुत्रों में अत्यन्त लीन हो रहा है।'

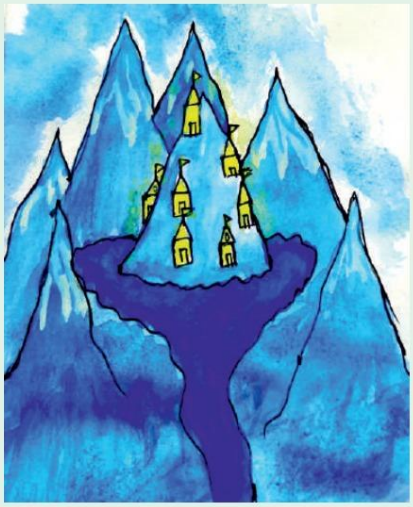

किसी समय चक्रवर्ती के पुत्रों ने अपने पिता से राजसभा में जाकर विनयपूर्वक निवेदन किया कि उन्हें भी कोई वीरतापूर्ण कार्य दिया जाये, परन्तु सगर चक्रवर्ती ने उन्हें राज्य–सुख भोगने का प्रेमपूर्ण आदेश देकर वापस लौटा दिया। वे राजपुत्र कुछ दिन बाद फिर पिता से आग्रहपूर्वक निवेदन करने लगे कि उन्हें कोई कार्य करने का अवसर दिया जाये। तब सगर चक्रवर्ती ने अपने पुत्रों को कैलाश पर्वत के चारों ओर गंगा नदी की परिखा (खाई) बनाने का आदेश दिया, ताकि गंगा नदी कैलाश पर्वत पर स्थित भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित जिनमंदिरों की परिक्रमा करते हुए आगे की ओर बह सके। उन राजपुत्रों ने पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न से वह काम शीघ्र ही कर दिया।

उसीसमय मणिकेतु देव को अपने मित्र सगर को संसार से विरक्त करने का उपाय सूझा और वह देव उन राजपुत्रों को डसकर चला गया, परन्तु राजपुत्रों की मृत्यु का समाचार सगर चक्रवर्ती तक पहुँचाने में कोई समर्थ नहीं हो पाया। तब मणिकेतु देव ब्राह्मण का रूप बनाकर चक्रवर्ती के पास पहुँचा और युक्ति बनाकर कहने लगा कि 'मेरे पुत्र को मेरे देखते– देखते यमराज ने ग्रहण कर लिया है, अतः आप उसे यमराज के हाथों से छुड़ाकर जीवनदान दीजिए।' यह सुनकर चक्रवर्ती बोला कि 'यमराज का निवारण तो सिद्ध भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता, अतः यदि तुम उस यमराज (मृत्यु) पर द्वेष रखते हो तो घर के भीतर व्यर्थ ही जीर्ण–शीर्ण मत होओ। मोक्ष प्राप्त करने के लिए शीघ्र ही जिनदीक्षा धारण करो, शोक छोड़ो।'

सगर चक्रवर्ती जब यह कह चुके तो ब्राह्मण वेषधारी मणिकेतु बोला– 'हे राजन्! यदि यह सच है तो मैं जो कुछ कहूँगा, उससे आपको भयभीत नहीं होना चाहिए। आपके जो पुत्र कैलाश पर्वत पर खाई खोदने गये थे, वे सब उस यमराज के द्वारा निगल लिए गये हैं, इसलिए आपको अपने कहे हुए मार्ग के अनुसार मृत्यु को जीतने के लिए दीक्षा लेनी चाहिए।

ब्राह्मण के उक्त वचन सुन सगर चक्रवर्ती मूर्छित हो गये। फिर अनेक उपचारों द्वारा होश में आने पर वे विचार करने लगे कि 'संसार की नश्वरता जानकर तीर्थंकर भगवान वन में चले जाते हैं। परन्तु मैं मूर्ख अब भी संसार में मूढ़ हो रहा हूँ।' ऐसा विचार कर सगर चक्रवर्ती ने अपने भव्य पुत्र भगीरथ को राज्य सौंप दिया और स्वयं दृढ़धर्मा केवली के समीप दीक्षा धारण कर तपश्चरण करने लगे, सो ठीक ही है, क्योंकि सज्जन पुरुष घर में तभी तक रहते हैं, जब तक कि विरक्त होने का कोई कारण नहीं दिखायी देता।

यहाँ चक्रवर्ती ने दीक्षा ली, वहाँ वह मणिकेतु देव उन पुत्रों के पास पहुँचा तथा उन्हें अपनी माया से मुक्त कर सचेत कर दिया और उनके पिता की दीक्षा का समाचार भी कह सुनाया। यह जानकर वे चरमशरीरी पुत्र भी संसार से विरक्त हो गये और उन्होंने भी जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। जब भगीरथ ने यह समाचार सुना तो वह मुनियों की वंदना करने वहाँ पहुँचा और उनसे धर्म का स्वरूप सुना तथा श्रावक के व्रत धारण किये।

अन्त में, मित्रवर मणिकेतु देव ने उन सगर आदि मुनियों के समक्ष अपनी सारी माया प्रकट कर दी और उनसे

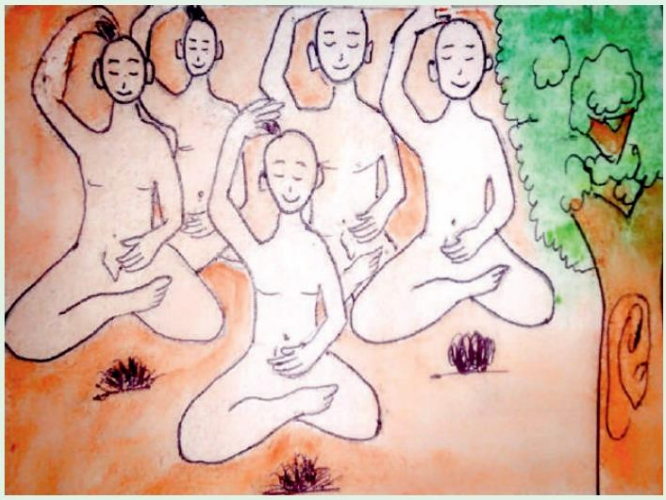

क्षमा याचना की। तब उन मुनियों ने कहा – 'इसमें आपका अपराध ही क्या है ? यह तो आपने हमारा हितकारी तथा प्रिय कार्य किया है।' इसप्रकार सान्त्वना प्राप्त कर तथा अपना कार्य सम्पन्न करके संतुष्ट होकर मणिकेतु देव स्वर्ग चला गया, सो ठीक ही है, क्योंकि अन्य पुरुषों के कार्य सिद्ध करने से ही प्रायः महापुरुषों को संतोष होता है।

ये सभी विद्वान् मुनिराज चिरकाल तक यथाविधि तपश्चरण कर सम्मेदशिखर पर पहुँचे और शुक्लध्यान के द्वारा परम पद मोक्ष को प्राप्त हुए।

अपने पिता एवं भाइयों की मोक्ष–प्राप्ति का समाचार सुनकर भगीरथ राजा भी संसार से विरक्त हो गये और उन्होंने भी जैनेश्वरी दीक्षा धारणकर गंगा नदी के तट से निर्वाण प्राप्त किया।

सच ही कहा गया है – इस लोक तथा परलोक में मित्र के समान हित करने वाला दूसरा कोई नहीं है। मित्र से बढ़कर कोई भाई नहीं है। जो बात गुरु अथवा माता–पिता से भी नहीं कही जाती, ऐसी गुप्त–से–गुप्त बात मित्र से कही जाती है। मित्र अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता हुआ कठिन–से–कठिन कार्य सिद्ध कर देता है। मणिकेतु ही इस विषय का स्पष्ट दृष्टान्त है, इसलिए सबको ऐसा ही मित्र बनाना चाहिए।

आधार :– आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित उत्तरपुराण

27

निर्वाणस्थली गंगा

(महर्षि भगीरथ एवं भागीरथी कथा)

(जैसे सभी पर्वतों में प्रधान है – हिमालय। वैसे ही सभी नदियों में प्रधान है – गंगा। भारतदेश की पहचान है – गंगा। तीर्थों में भी महान है गंगा। गंगा नदी के जल को तीर्थ–जल कहा जाता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि आखिर गंगा की इतनी महिमा क्यों है ? उसे निर्वाणस्थली, तीर्थस्थली या सिद्धस्थली क्यों कहा जाता है? जो महत्त्व जिनप्रतिमा के चरणोदक को दिया जाता है, वही महत्त्व गंगा जल को क्यों दिया जाता है ? क्यों गंगा के जल को तीर्थ–जल कहा जाता है ? जैनागम के आलोक में गंगा नदी को भागीरथी और निर्वाणस्थली कहे जाने का क्या कारण है ? इन्हीं जिज्ञासाओं के समाधान खोजने के लिए चलते हैं , दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के शासन काल में।)

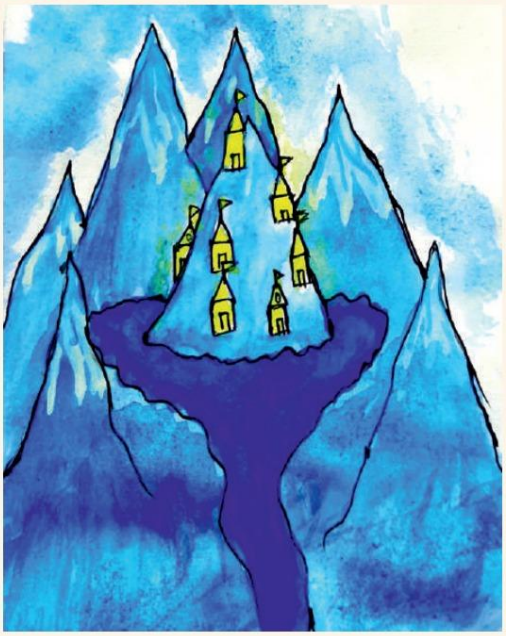

तीर्थंकर अजितनाथ के शासन में द्वितीय चक्रवर्ती सम्राट हुए हैं – सगर। सगर चक्रवर्ती से अनुमति लेकर जब उनके साठ हजार पुत्र अष्टापद कैलाश पर्वत के चारों ओर खाई बनाते हैं, ताकि गंगा नदी कैलाश पर्वत की परिक्रमा लगाते हुए आगे बढ़े, तभी सगर चक्रवर्ती का पूर्वभव का मित्र मणिकेतु देव, सगर चक्रवर्ती को संसार से विरक्त करने के उद्देश्य से सभी पुत्रों को मूर्च्छित कर उनकी मृत्यु का समाचार लेकर सगर चक्रवर्ती के पास पहुँचा। पुत्रों की मृत्यु का समाचार सुनकर सगर चक्रवर्ती संसार को क्षणभंगुर जानकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज बन गये तथा पुत्रों की मूर्च्छा दूर होने पर उसी देव ने उन्हें पिता के संसार से विरक्त हो, जैनेश्वरी दीक्षा लेने का समाचार दिया। यह सुनकर सभी साठ हजार पुत्र भी संसार से विरक्त हो मुनि बन गये । बाद में वह मित्र देव सगर चक्रवर्ती आदि मुनिराजों से अपना असली रूप प्रकट करके तथा पूर्वभव की प्रतिज्ञा का स्मरण कराके उनसे क्षमा–याचना करने लगा, तब सगर मुनिराज ने उसे उपकारी मित्र कहकर उसकी बहुत प्रशंसा की और फिर शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर पर आत्मसाधना करने लगे। आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ कर सगर चक्रवर्ती आदि सभी मुनिराज सम्मेदशिखर से ही मोक्ष पधारे।

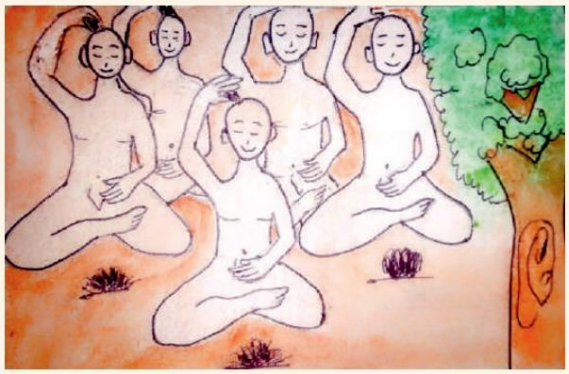

दीक्षा लेने के पूर्व सगर चक्रवर्ती ने अयोध्या के राजसिंहासन पर अपने पुत्र भगीरथ का राज्याभिषेक किया था। राजसिंहासन पर विराजमान होकर राजा भगीरथ ने न्याय–नीति पूर्वक कई वर्षों तक प्रजा का पालन किया। फिर अपने पिता एवं भाइयों की मोक्ष–प्राप्ति का समाचार सुनकर संसार से विरक्त होकर राजा भगीरथ भी दिगम्बर मुनिराज हो गये।

महर्षि भगीरथ ने गंगा नदी के किनारे आसन लगाकर ऐसा तपश्चरण किया कि आत्मा में तो संवरपूर्वक कर्मों की निर्जरा हो रही थी और बाहर पुण्य के प्रभाव से देवों के आसन कंपायमान होने लगे। जब देवों ने महर्षि भगीरथ के तपश्चरण का माहात्म्य समझा तो वे सब उनके दर्शन- पूजन के लिए धरती पर आये। देवों ने गंगा नदी के किनारे विराजमान मुनिराज भगीरथ की पूजा-अर्चना की और उनके चरणों का अभिषेक (पाद-प्रक्षालन) किया। मुनिराज भगीरथ के चरणों के प्रक्षाल का जल (चरणोदक) गंगा नदी में भी चला गया, तब से गंगा का जल भी तीर्थजल, चरणोदक या पवित्र जल के रूप में प्रसिद्ध हो गया। कुछ काल पश्चात् गंगा नदी के किनारे ही भगीरथ महर्षि ने शुक्लध्यान के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति की, तब भी देवों ने आकर अरहंत दशा को प्राप्त भगीरथ महर्षि के केवलज्ञान का उत्सव मनाया और कुछ काल पश्चात् भगवान भगीरथ गंगा नदी के तट से ही निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हुए अर्थात् वहीं से सिद्ध हो गये। तब देवताओं ने आकर भगवान के मोक्ष प्राप्ति का भी उत्सव मनाया।

गंगा नदी निर्वाण स्थली बन गयी तथा भगीरथ ऋषि के नाम के साथ गंगा का नाम इस प्रकार जुड़ गया कि लोग गंगा नदी को 'भागीरथी' कहने लगे और गंगा के जल को मस्तक पर लगाकर उन महर्षि के चरणों की वंदना करने लगे।

हम भी सगर चक्रवर्ती, राजा भगीरथ आदि महापुरुषों के समान संसार से विरक्त होकर निज चैतन्य की साधना कर अनंत सुख स्वरूप मोक्ष अवस्था को प्राप्त करें तथा सादि-अनंत काल तक शाश्वत, अतीन्द्रिय, सुख का रसास्वादन करते रहें।

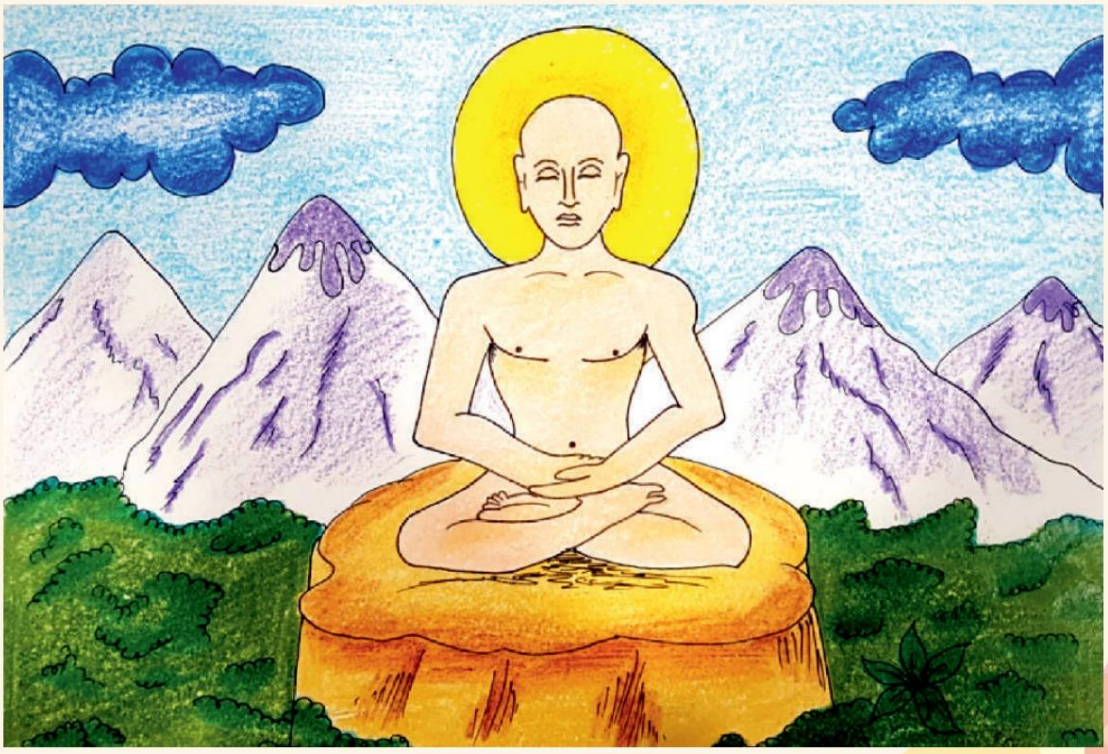

आधार :- आचार्य गुणभद्ररचित उत्तरपुराण

28 मुनिराज बलदेव की तपश्चर्या

यह कथा उस समय की है, जब जैनधर्म के बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का धर्मोपदेश सम्पूर्ण भारतवर्ष में हो रहा था। समवशरण सभा में भगवान की दिव्यध्वनि में हुई घोषणा के अनुसार द्वारिकानगरी जलकर भस्म हो चुकी थी तथा जरत्कुमार के तीर लगने से नारायण कृष्ण की मृत्यु हो चुकी थी और बलभद्र बलदेव अपने भाई कृष्ण के प्रति अतिस्नेह के कारण छह माह से उनके मृतक शरीर को अपनी गोद में लिये तथा विलाप करते हुए यहाँ–वहाँ भटक रहे थे। फिर उन्हीं के भाई सिद्धार्थ के द्वारा देवपर्याय में जन्म लेने के बाद पूर्वजन्म के स्नेहवश अनेक तरह के उपाय करने पर अन्ततः बलदेव प्रतिबोध को प्राप्त हुए।

जरत्कुमार और पाण्डवों के साथ बलदेव ने तुंगीगिरि के शिखर पर कृष्ण का दाहसंस्कार कर जरत्कुमार को राज्य सौंप दिया और उन्होंने जीवन को क्षणभंगुर समझकर परिग्रह के त्याग का निश्चय किया। उन्होंने उसी पर्वत के शिखर पर स्थित हो, यह कहकर कि 'मैं यहाँ रहता हुआ भी श्री नेमिजिनेन्द्र की शिष्यता को प्राप्त होता हूँ' पंचमुष्टियों से सिर के बाल उखाड़कर मुनि–दीक्षा धारण कर ली। बलदेव शरीर से अत्यन्त सुन्दर थे। इसलिए आहार के लिए नगर में प्रवेश करते समय स्त्रियों की विपरीत चेष्टाएँ होने लगी, अतः बलदेव मुनिराज 'यदि वन में भिक्षा मिले तो लेंगे, अन्यथा नहीं' ऐसी प्रतिज्ञा कर संतोष को प्राप्त हुए।

मुनिराज बलदेव अपने ज्ञान–वैराग्य की वृद्धि हेतु निरन्तर चिन्तन करते थे कि 'जिन महल, शरीर, धन, सांसारिक सुख और बन्धुजनों में 'ये नित्य हैं' यह समझकर ममता भाव उत्पन्न होता है, उनमें आत्मा को छोड़कर किसी में भी नित्यता नहीं है, सभी क्षणभंगुर हैं। मृत्यु के दुःख से पीड़ित मेरे लिए धर्म के सिवाय न भाई–बन्धु शरण हैं और न धन ही शरण है। मैं नित्य हूँ और शरीर अनित्य है। मैं चेतन हूँ और शरीर अचेतन है।जब शरीर से भी मुझमें भिन्नता है, तब दूसरी वस्तुओं से भिन्नता क्यों नहीं होगी? यह अपना अथवा पराया शरीर रज, वीर्यरूप निंद्य निमित्तों से उत्पन्न है, महा अपवित्र है, इसलिए ऐसा कौन पवित्र आत्मा होगा, जो इस अपवित्र शरीर में वियोग के समय शोक को प्राप्त होगा और संयोग के समय राग करेगा ? जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ यह अहिंसा आदि लक्षण धर्म ही मोक्षप्राप्ति का कारण है, इसके अतिरिक्त मोक्ष का दूसरा कोई उपाय नहीं है तथा इसका त्याग करने से संसार का दुःख ही प्राप्त होता है' – इत्यादि प्रकार से परम्परा से प्रसिद्ध बारह अनुप्रेक्षाओं का बार–बार चिन्तवन करने वाले उत्कृष्ट बुद्धि के धारक बलदेव मुनिराज ने बाईस परीषहरूपी शत्रुओं को जीतकर भाई के मोह को भी जीत लिया।

यद्यपि बलदेव मुनिराज की जठराग्नि अत्यधिक प्रज्वलित रहती थी, परन्तु वे मोक्ष की सिद्धि के लिए भूख से आधा ही भोजन करते थे। वे ध्यान और अध्ययन में सदा निमग्न रहते थे, इसलिए रात्रि के समय क्रम-क्रम से बहुत थोड़ी निद्रा पृथ्वीरूपी शय्या पर एक करवट से और बिना कुछ ओढ़े हुए लेते थे। वे रूखे शीतल एवं प्रकृति के विरुद्ध आहार तथा वात-पित्त और कफ के प्रकोप से उत्पन्न रोग का प्रतिकार नहीं करते थे। वे हाथ के नाखूनों से शरीर का मैल कभी नहीं छुटाते थे – इत्यादि प्रकार से सभी तरह के परीषह सहन करते थे।

तुंगीगिरि के शिखर पर स्थित बलदेव ने संसार-चक्र का क्षय करने में तत्पर हो अनेक प्रकार का तप किया। वे एक दिन, दो दिन, तीन दिन को आदि लेकर छह माह तक के उपवासों से कषाय और शरीर का शोषण तथा धैर्य का पोषण करते थे। वन में मिलने वाली भिक्षा से प्राणधारण करने के लिए उद्यत हो, वे वन में ही विहार करते थे।

'बलदेव वन में विहार कर रहे हैं' यह बात नगरों तथा गाँवों में फैल गयी, उसे सुन समीपवर्ती राजा क्षुभितचित्त हो, वहाँ आ पहुँचे। शंकारूपी विष से युक्त तथा अनेक प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित उन राजाओं को, जब सिद्धार्थ नामक देव ने देखा तो उस वन में उसने सिंहों के समूह रच दिये। जब उन आये हुए राजाओं ने मुनिराज के चरणों के समीप सिंहों को देखा, तब वे उनकी सामर्थ्य जानकर उन्हें नमस्कार करके शान्त भाव को प्राप्त हो गये। उसी समय से बलदेव मुनिराज लोक में 'नरसिंह' के रूप में प्रसिद्ध हो गये। वे सिंह के समान चौड़े वक्षःस्थल से सुशोभित थे तथा सिंहरूपी सेवकों से युक्त थे।

इस प्रकार सौ वर्ष पर्यंत तपकर बलदेव मुनिराज ने अन्त में समाधि धारण की और उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोक में इन्द्र पद को प्राप्त हुए।

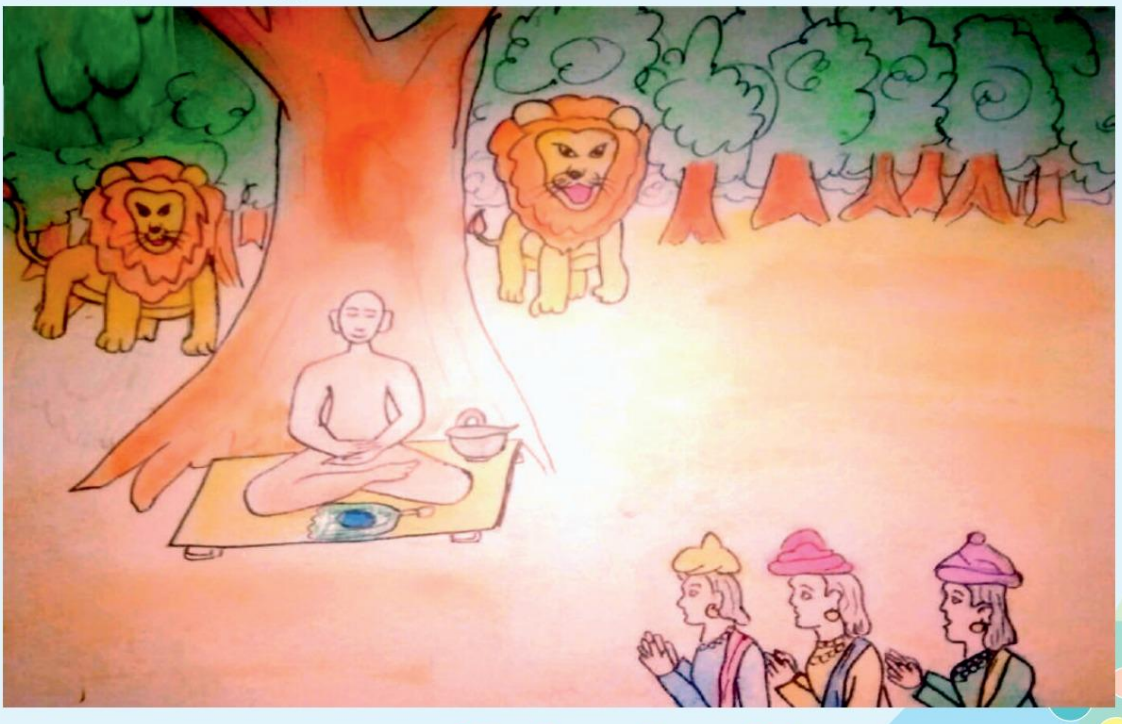

आधार : – आचार्य जिनसेन स्वामी कृत हरिवंशपुराण

29 उपसर्गजयी यशोदा-पुत्री

एक समय की बात है; बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का धर्मतीर्थ प्रवर्त रहा था। भरतक्षेत्र के तीन खण्डों पर नौवें नारायण श्री कृष्ण का राज्य था। कृष्ण की धर्म-बहन, यशोदा एवं नंदगोप की पुत्री युवावस्था को प्राप्त हुई। वह सर्वांग सुन्दर थी एवं सभी परिवारजनों की लाड़ली थी। उसे सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं।

एक बार जब कृष्ण एवं बलदेव के पुत्रों ने मजाक करते हुए उसे 'चपटी नाक वाली बुआ' कह दिया, तब वह संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गयी। वह विचार करने लगी कि 'मेरा सर्वांग सुन्दर रूप है, परन्तु नाक चपटी है। अहो ! कैसे कर्मों की विचित्रता है। मैंने पूर्वभव में जो कर्म किये थे; वे ही इस जन्म में उदय में आये हैं। वस्तुतः अपने द्वारा किये गये कर्म भवान्तर में फल देते ही हैं अतः हमें अपने परिणामों की सँभाल करना चाहिए। अब मैं इस नश्वर देह से भिन्न अविनश्वर चैतन्यस्वरूप निज आत्मा की साधना एवं आराधना करूँगी तथा कालान्तर में अशरीरी सिद्ध अवस्था को प्राप्त करूँगी।'

ज्ञात रहे - यह वही कन्या है; जिसे जन्म लेते ही नवजात बालक कृष्ण के स्थान पर मथुरा भेजकर कृष्ण की सुरक्षा की गयी थी। जब कंस देवकी की सातवीं संतान को मारने पहुँचा। उसने देखा कि देवकी ने पुत्री को जन्म दिया है, तब उसने उस कन्या की नाक दबाकर उसे जीवित छोड़ दिया था। वही अब वैराग्य भाव को प्राप्त हुई है।

संसार से विरक्त हो कृष्ण की बहन या यशोदा की पुत्री महल से निकल कर 'सुव्रता' नामक आर्यिका के पास पहुँची, वे उसे आचार्यश्री के पास ले गयीं। आचार्य ने अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रों से जानकर बताया कि यशोदा की पुत्री की नाक इसलिए चपटी हो गयी, क्योंकि उसने पूर्वभव में राजपुत्र की पर्याय में रथ की सवारी करते हुए असावधानी के कारण एक मुनिराज पर रथ चढ़ा दिया था, जिससे उनके शरीर के अंग क्षत-विक्षत हो गये थे। मुनिराज ने तो उपसर्ग समतापूर्वक सहन कर लिया, परन्तु राजपुत्र को तीव्र कर्मों का संचय हुआ। बाद में राजपुत्र को अपनी भूल पर बहुत पश्चात्ताप हुआ और उसने मुनिराज से क्षमायाचना की तथा उनकी विशेष भक्ति की, परन्तु सभी पाप कर्मों का क्षय नहीं कर सकी, अतः इस जन्म में स्त्री पर्याय एवं अंगों में चपटी नाक को प्राप्त हुई।

पूर्वजन्म की घटना सुनकर उसका वैराग्य और अधिक दृढ़ हो गया और वह दीक्षा लेकर आर्यिका बन गयी। संघ में अनेक वर्षों तक तपश्चर्या करते हुए, वे विंध्याचल की श्रृंखलाओं में गुजरात के पावागढ़ नाम से प्रसिद्ध विशाल पर्वत पर पहुँचीं।

पर्वत की चोटी पर पद्मासन में विराजमान होकर जब आर्यिका देह से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप अविनाशी आत्मा का निर्विकल्प संवेदन कर रही थीं, तभी वहाँ से भीलों की सेना पास के नगर की धन-दौलत को लूटने के लिए जा रही थी। उनकी नजर आर्यिका पर पड़ी। उन सबने उन्हें वनदेवी समझा और उनको नमस्कार कर प्रतिज्ञा की कि वे जिस कार्य के लिए जा रहे हैं, यदि वह सफल हो गया तो वे देवी की जो आज्ञा होगी, वह करेंगे।

भीलों की सेना के चले जाने के बाद वहाँ एक भयानक शेर आया और उसने आर्यिका पर भयंकर

उपसर्ग किया। उसने अपने तीक्ष्ण दाँत और नाखूनों से उनके शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया, परन्तु वे तो देह से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान कर रही थीं। वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुईं। ज्यों-ज्यों शेर उनके शरीर को खा रहा था, त्यों-त्यों वे अपने उपयोग को अपने ज्ञानानन्दमयी आत्मा में निमग्न कर रही थीं। अन्ततः आयु पूर्ण होने पर वे स्वर्ग में देव हुईं। शेर ने मृतक शरीर का पूरा भक्षण कर लिया, मात्र तीन अंगुलियाँ शेष रहीं।

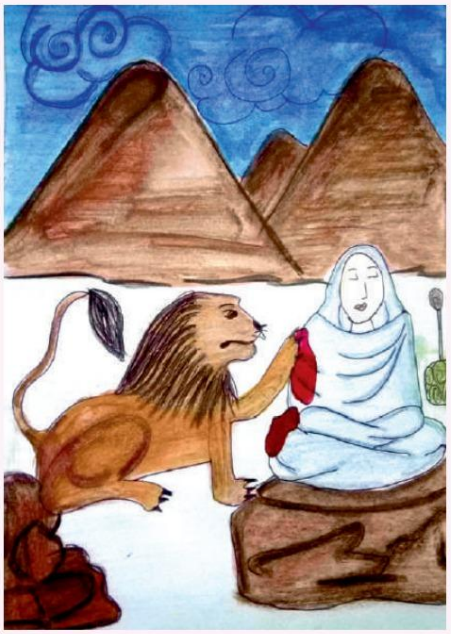

यहाँ भीलों की सेना अपने कार्य में सफल होकर आर्यिका के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिए उनके दर्शन करने एवं यथेच्छ भेंट समर्पित करने आ पहुँची। भीलों ने देखा कि वह शेर उछलता-कूदता जंगल में चला गया तथा धरती खून से लिप्त थी एवं तीन अंगुलियाँ वहाँ पड़ी हुई थीं। भीलों को देवी के दर्शन तो हुए नहीं, उन्होंने जो दृश्य देखा, उससे उन्होंने समझा कि देवी शेर का रूप धारण करके विलीन हो गयी, वह खून या बलि से संतुष्ट होती है तथा तीन अंगुलियों से त्रिशूल की कल्पना कर ली और समझ लिया कि वह देवी शेरावाली है एवं त्रिशूल को धारण करती है तथा बलि से संतुष्ट होती है। अतः भीलों ने देवी का काल्पनिक रूप बनाकर उसके समक्ष कई भैंसाओं की बलि चढ़ायी, जिससे खून की नदी-सी बहने लगी। इस प्रकार एक पापपूर्ण प्रथा प्रारम्भ हो गयी।

देखो, कैसी विडम्बना है ! कि जीव कैसे बिना विवेक के, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, सत्य-असत्य का विचार किये बिना पाप कार्यों को ही धर्म समझ लेते हैं। कहाँ वे परम पवित्र आर्यिका और कहाँ कल्पित हिंसक रूप ? वह देवी तो स्वर्ग में देव हुई, परन्तु उनके स्वरूप की मिथ्या कल्पना करके पापियों ने हिंसा का ताण्डव मचाना शुरु कर दिया। वस्तुतः कोई देव या देवी किसी के खून, मांस या बलि से संतुष्ट नहीं होते, उनका भक्षण नहीं करते, परन्तु जीव व्यर्थ ही मिथ्या कल्पना कर पाप में रमते हैं।

अहिंसक समाज तो उन आर्यिका के प्रेरक जीवन प्रसंग से यह प्रेरणा लें कि हम भी उनकी तरह देह से भिन्न चैतन्य-स्वरूप निजात्मा की साधना करें, सुखामृत का पान करें, उपसर्ग के काल में भी धैर्यपूर्वक अपनी साधना में लीन रहें तथा समतापूर्वक शरीर त्यागकर उत्तम गति को प्राप्त करें तथा अंततः आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ कर शाश्वत आनन्दधाम मोक्ष को प्राप्त करें।

आधार : - आचार्य जिनसेन कृत हरिवंशपुराण

30 पिता-पुत्र का केवलज्ञान महोत्सव

प्राचीन काल में अयोध्या नाम की नगरी में पुरन्दर नाम का राजा राज्य करता था। उसकी भार्या थी रानी पृथ्वीमती। एक दिन रानी ने शुभमुहूर्त में एक पुत्र को उत्पन्न किया। उस पुत्र का नाम था 'कीर्तिधर'। वह पुत्र समस्त प्रसिद्ध गुणों का मानो सागर ही था। अपनी सुन्दर चेष्टा से समस्त बंधुओं की प्रसन्नता बढ़ाता हुआ विनयी कीर्तिधर क्रम-क्रम से यौवन को प्राप्त हुआ। तब राजा पुरन्दर ने उसके लिए कौशल देश के राजा की पुत्री स्वीकृत की। उसका नाम था सहदेवी।

पुत्र का विवाह कर राजा पुरन्दर विरक्त हो घर से निकल पड़ा। गुणरूपी आभूषणों को धारण करने वाले राजा पुरन्दर ने क्षेमंकर मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर कर्मों की निर्जरा का कारण कठिन तप करना प्रारम्भ किया। इधर शत्रुओं को जीतने वाला राजा कीर्तिधर कुल-क्रमागत राज्य का पालन करता हुआ देवों के समान उत्तम भोगों के साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करने लगा।

किसी दिन शत्रुओं को भयभीत करने वाला प्रजा-वत्सल राजा कीर्तिधर, अपने सुन्दर भवन के ऊपर सुख से बैठा हुआ सुशोभित हो रहा था कि उसकी दृष्टि राहु विमान की नील कान्ति से आच्छादित सूर्यमण्डल (सूर्यग्रहण) पर पड़ी। उसे देखकर वह विचार करने लगा कि 'अहो! उदय में आया कर्म दूर नहीं किया जा सकता। जो सूर्य भीषण अंधकार को नष्ट कर चन्द्रमण्डल को कान्तिहीन कर देता है तथा कमलों के वन को विकसित करता है, वह सूर्य राहु को दूर करने में समर्थ नहीं है। जिस प्रकार यह सूर्य नष्ट हो रहा है, उसी प्रकार यह यौवनरूपी सूर्य भी जरारूपी ग्रहण को प्राप्तकर नष्ट हो जायेगा। मजबूत पाश से बँधा हुआ बेचारा प्राणी अवश्य ही मृत्यु के मुख में जाता है।'

इस प्रकार समस्त संसार को अनित्य मानकर राजा कीर्तिधर ने सभा में बैठे हुए मंत्रियों से कहा कि 'अहो मंत्रीजनो! इस सागरान्त पृथ्वी की आप लोग रक्षा करो। मैं तो मुक्ति के मार्ग में प्रयाण करता हूँ।' राजा के ऐसा कहने पर विद्वानों तथा बन्धुजनों से परिपूर्ण सभा विषाद को प्राप्त होकर उससे इसप्रकार बोली कि 'हे राजन्! इस समस्त पृथ्वी के तुम्हीं एक अद्वितीय पति हो। यह पृथ्वी आपके अधीन है तथा आपने समस्त शत्रुओं को जीता है, इसलिए आपके छोड़ने पर सुशोभित नहीं होगी। हे उन्नत पराक्रम के धारक! अभी आपकी नयी अवस्था है, इसलिए इन्द्र के समान राज्य करो।'

इसके उत्तर में राजा ने कहा कि 'जो जन्मरूपी वृक्षों से व्याप्त है; बुढ़ापा, वियोग तथा अरतिरूप अग्नि से प्रज्वलित है तथा अत्यन्त दीर्घ है, ऐसी इस व्यसनरूपी अटवी को देखकर मुझे भारी भय उत्पन्न हो रहा है।' जब मंत्रीजनों को राजा के दृढ़ निश्चय का बोध हो गया, तब उन्होंने कहा कि 'हे नाथ! तुम्हारे बिना यह बेचारी समस्त प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जायेगी। प्रजा के नष्ट होने पर धर्म नष्ट हो जायेगा और धर्म के नष्ट होने पर क्या नहीं नष्ट होगा, सो तुम्हीं कहो? इसलिए जिसप्रकार आपके पिता ने प्रजा की रक्षा के लिए यह राज्य आपको देकर मोक्ष प्रदान करने में दक्ष तपश्चरण किया था, उसी प्रकार आप भी अपने इस कुलधर्म की रक्षा कीजिए।'कुशल मंत्रियों के इसप्रकार कहने पर राजा कीर्तिधर ने नियम किया कि 'जिस समय मैं पुत्र को उत्पन्न हुआ सुनूँगा, उससमय मुनियों का उत्कृष्ट पद अवश्य धारण कर लूँगा।'

जिसके भोग और पराक्रम इन्द्र के समान थे तथा जिसकी आत्मा सदा सावधान रहती थी, ऐसे राजा कीर्तिधर ने सब प्रकार के भय से रहित तथा सुव्यवस्था से युक्त दीर्घ पृथ्वी का चिरकाल तक पालन किया।

कुछ समय बाद राजा कीर्तिधर की रानी सहदेवी ने सर्वगुणों से परिपूर्ण एवं पृथ्वी को धारण करने में समर्थ पुत्र को उत्पन्न किया। पुत्र-जन्म का समाचार राजा के कानों तक न पहुँच जाये, इस भय से पुत्र-जन्म का उत्सव नहीं किया गया तथा इसी कारण कितने ही दिन तक प्रसव का समय गुप्त रखा गया। परन्तु उगते हुए सूर्य के समान वह बालक चिरकाल तक छिपाकर कैसे रखा जा सकता था ? फलस्वरूप किसी दरिद्र मनुष्य ने पुरस्कार पाने के लोभ से राजा को उसकी खबर दे दी। राजा ने हर्षित होकर उसके लिए मुकुट आदि दिये तथा विपुल धन से युक्त सौ गाँवों के साथ एक सुन्दर नगर भी दिया। माता की महा तेजपूर्ण गोद में स्थित उस एक पक्ष के बालक को बुलवा कर उसे बड़े वैभव के साथ अपने पद पर बैठाया। चूँकि उसके उत्पन्न होने पर वह कोशला नगरी वैभव से अत्यन्त मनोहर हो गयी थी, इसलिए उत्तम चेष्टाओं को धारण करनेवाला वह बालक 'सुकौशल' नाम को प्राप्त हुआ।

राजा कीर्तिधर भवनरूपी कारागार से निकल कर तपोवन में पहुँचे और तप संबंधी तेज से वर्षाकाल से रहित सूर्य के समान अत्यन्त सुशोभित होने लगे।

जो घोर तपस्वी थे, पृथ्वी के समान क्षमा के धारक थे, प्रभु थे, जिनका शरीर मैलरूपी कंचुक से व्याप्त था, जिन्होंने मान को नष्ट कर दिया था, जो उदार हृदय थे, जिनका समस्त शरीर तप से सूख गया था, जो अत्यन्त धीर थे, केशलोंच करने को जो आभूषण के समान समझते थे; जिनकी लम्बी भुजाएँ नीचे की ओर लटक रही थीं, जो चार हाथ प्रमाण मार्ग में दृष्टि डालते हुए चलते थे, विकार-शून्य थे, चित्त की एकाग्रता से सहित थे, विनीत थे, लोभरहित थे, आगमानुकूल आचार का पालन करते थे; जिनका मन दया से निर्मल था, जो स्नेहरूपी पंक से रहित थे, मुनिपदरूपी लक्ष्मी से सहित थे और जिन्होंने चिरकाल का उपवास धारण कर रखा था, ऐसे कीर्तिधर मुनिराज भ्रमण करते हुए गृहपंक्ति के क्रम से प्राप्त अपने पूर्व घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करने लगे।

उससमय उनकी गृहस्थावस्था की स्त्री सहदेवी झरोखे में दृष्टि लगाये खड़ी थी, सो उन्हें आते देख परमक्रोध को प्राप्त हुई। क्रोध से उसका मुँह लाल हो गया। ओंठ चबाती हुई उस दुष्टा ने द्वारपालों से कहा कि 'यह मुनि घर को फोड़नेवाला है, इसलिए यहाँ से शीघ्र ही निकाल दिया जाये। स्वभाव से ही कोमल चित्त का धारक सुकुमार, जब तक इसे नहीं देखता है, तब तक शीघ्र ही दूर कर दो। यही नहीं, यदि मैं और भी नग्न मनुष्यों को महल के अन्दर देखूँगी तो हे द्वारपालो ! याद रखो, मैं अवश्य ही तुम्हें दण्डित करूँगी। यह निर्दय जब से शिशुपुत्र को छोड़कर गया, तभी से इन लोगों में मेरा संतोष नहीं रहा। ये लोग महाशूर वीरों से सेवित राज्यलक्ष्मी से द्वेष करते हैं तथा महान् उद्योग करने में तत्पर रहने वाले मनुष्यों को अत्यन्त निर्वेद प्राप्त करा देते हैं।'

सहदेवी के इस प्रकार कहने पर जिनके मुख से दुर्वचन निकल रहे थे तथा जो हाथ में बेंत लिये हुए थे, ऐसे दुष्ट द्वारपालों ने उन मुनिराज को दूर से ही शीघ्र निकाल दिया। इन्हें ही नहीं, 'राजकुमार धर्म का शब्द न सुन ले' इस भय से नगर में जो और भी मुनिराज विद्यमान थे, उन सबको नगर से बाहर निकाल दिया।

वचनरूपी बसूली (लकड़ी छीलने का छोटा उपकरण) के द्वारा छीले हुए मुनिराज को सुनकर तथा देखकर जिसका भारी शोक फिर से नवीन हो गया था तथा जो भक्ति से युक्त थी, ऐसी धाय चिरकाल बाद अपने स्वामी कीर्तिधर को पहचान कर गला फाड़-फाड़कर रोने लगी। उसे रोती सुनकर सुकौशल शीघ्र ही उसके पास आया और

सान्त्वना देता हुआ बोला कि 'हे माता ! कह तेरा किसने अनर्थ किया है, माता ने इस शरीर को गर्भमात्र में ही धारण किया है, पर आज यह शरीर तेरे दुग्धपान से ही इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। तू मेरे लिए माता से भी अधिक गौरव को धारण करती है। बता, यमराज के मुख में प्रवेश करने की इच्छा करने वाले किस मनुष्य ने तेरा अपमान किया है ?'

वसन्तकला नामक धाय ने बड़े दुःख से आँसुओं की धारा को कम कर सुकौशल से कहा कि 'तुम्हारा जो पिता शिशु अवस्था में ही तुम्हारा राज्याभिषेक कर संसाररूपी दुःखदायी पंजर से भयभीत हो तपोवन में चला गया था, आज वह भिक्षा के लिए आपके घर में प्रविष्ट हुआ तो तुम्हारी माता ने अपने अधिकार से उसे द्वारपालों के द्वारा अपमानित कर बाहर निकलवा दिया। उसे अपमानित होते देख मुझे बहुत शोक हुआ और उस शोक को मैं रोक नहीं सकी। इसलिए हे वत्स ! मैं रो रही हूँ। जिसे आप गौरव से देखते हैं, उसका पराभव कौन कर सकता है ?'

निर्ग्रन्थ मुनि को देखकर तुम्हारी बुद्धि वैराग्यमय न हो जाये, इस भय से नगर में मुनियों का प्रवेश रोक दिया गया है। परन्तु तुम्हारे कुल में परम्परा से यह धर्म चला आया है कि पुत्र को राज्य देकर तपोवन में जाकर निर्ग्रन्थ दशा धारणकर मोक्ष के लिए साधना करना। तुम कभी घर से बाहर नहीं निकल सकते हो, इतने से ही क्या मंत्रियों के इस निश्चय को नहीं जान पाये हो ? इसी कारण नीति के जानने वाले मंत्रियों ने तुम्हारे भ्रमण आदि की व्यवस्था इसी भवन में कर रखी है।'

वसन्तलता धाय के द्वारा निरूपित समस्त वृत्तान्त सुनकर सुकौशल शीघ्रता से महल के अग्रभाग से नीचे उतरा और छत्र, चमर आदि राज–चिह्नों को छोड़कर कमल के समान कान्ति को धारण करने वाले पैरों से पैदल ही चल पड़ा। वह लक्ष्मी से सुशोभित था तथा मार्ग में लोगों से पूछता जाता था कि 'यहाँ कहीं आप लोगों ने उत्तम मुनिराज को देखा है ?' इसतरह परम उत्कण्ठा से युक्त सुकौशल राजकुमार पिता के समीप पहुँचा। वहाँ उसने प्रासुक, विशाल तथा उत्तम शिलातल पर विराजमान अपने पिता कीर्तिधर मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। उस समय उसके नेत्र आँसुओं से व्याप्त थे और उसकी भावनाएँ अत्यन्त उत्तम थीं। उसने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से लगाये तथा घुटनों और मस्तक से पृथ्वी का स्पर्श कर बड़े स्नेह के साथ उनके चरणों में नमस्कार किया। वह हाथ जोड़कर विनय से मुनिराज के आगे बैठ गया। अपने घर से मुनिराज का तिरस्कार होने के कारण वह लज्जित था। उसने मुनिराज से कहा कि 'जिसप्रकार घर में सोते हुए मनुष्यों को तीव्र गर्जना से युक्त मेघों का समूह जगा देता है, उसी प्रकार इस संसाररूपी घर में मैं मोहरूपी नींद में सो रहा था, सो हे प्रभो ! आपने मुझे जगाया है। आप प्रसन्न होइये तथा आपने स्वयं जिस दीक्षा को धारण किया है, वह मेरे लिए भी दीजिये। हे भगवन् ! मुझे भी इस संसार के व्यसनरूपी संकट से बाहर निकालिये।' नीचे की ओर मुख किये हुए सुकौशल जब तक मुनिराज से यह कह रहा था, तब तक उसके समस्त सामन्त वहाँ आ पहुँचे। सुकौशल की पत्नी विचित्रमाला भी गर्भ के भार को धारण करती, अतःपुर के साथ वहाँ आ पहुँची। सुकौशल को दीक्षा के सम्मुख जानकर अन्तःपुर से एक साथ रोने की आवाज उठ पड़ी।

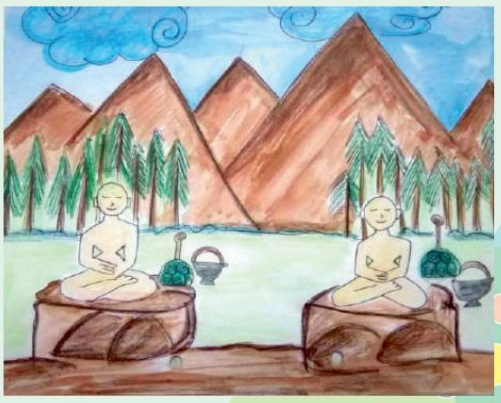

सुकौशल ने कहा कि 'यदि विचित्रमाला के गर्भ में पुत्र है तो उसके लिए मैंने राज्य दिया' इस प्रकार कहकर उसने निःस्पृह हो, आशारूपी पाश को छेदकर, स्नेहरूपी पंजर को जलाकर, स्त्रीरूपी बेड़ी को तोड़कर, राज्य को तृण समान छोड़कर, अलंकारों का त्याग कर, अंतरंग–बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का उत्सर्ग कर, पर्यंकासन से बैठकर, केशों को लोंचकर पिता से महाव्रत धारण कर लिये और दृढ़ निश्चय हो शान्त चित्त से पिता के साथ विहार करने लगा।

मिथ्यादृष्टि तथा पाप करने में तत्पर रहने वाली सहदेवी आर्तध्यान से मरकर तिर्यंच योनि में उत्पन्न हुई। आगमानुकूल

आचार को धारण करने वाले दोनों पिता-पुत्र निर्ग्रन्थ साधु कीर्तिधर मुनिराज और सुकौशलस्वामी इच्छानुसार विहार करते हुए एक श्मशानभूमि में आये। वहाँ एक वृक्ष के नीचे चार मास का उपवास लेकर विराजमान हो गये। वे दोनों मुनिराज कभी पर्यंकासन से विराजमान रहते थे, कभी कायोत्सर्ग धारण करते थे और कभी वीरासन आदि विविध आसनों से अवस्थित रहते थे। इस तरह उन्होंने वर्षाकाल व्यतीत किया।

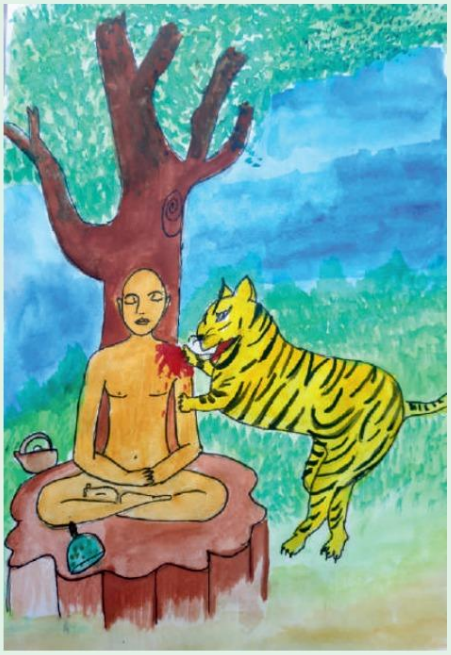

इसके बाद जिसमें समस्त मानव उद्योग-धन्धों से लग गये थे तथा जो प्रातःकाल के समान समस्त संसार को प्रकाशित करने में निपुण थी, ऐसी शरद ऋतु आयी। कार्तिक मास की पूर्णिमा व्यतीत होने पर तपस्वीजन उन स्थानों में विहार करने लगे, जिनमें भगवान के गर्भ, जन्म आदि कल्याणक हुए थे तथा लोग अनेक प्रकार से धर्म प्रभावना करने के लिए उद्यत होने लगे।

जिनका चातुर्मासोपवास का नियम पूर्ण हो गया था, ऐसे वे मुनिराज आगमानुकूल गति से गमन करते हुए पारणा के निमित्त नगर में जाने के लिए उद्यत हुए। उसीसमय एक व्याघ्री जो पूर्वभव में सुकौशल मुनि की माता सहदेवी थी, उन्हें देखकर क्रोध से भर गयी, उसकी बिखरी जटाएँ काँप रही थीं, उसका मुख दाढ़ों से भयंकर था, पीले-पीले नेत्र चमक रहे थे, उसकी गोल पूँछ मस्तक के ऊपर आकर लग रही थी, नखों के द्वारा वह पृथ्वी को खोद रही थी, गम्भीर हुँकार कर रही थी। बहुत देर तक क्रीड़ा करने के बाद उसने सुकौशलस्वामी को लक्ष्य कर ऊँची छलांग भरी। सुन्दर शोभा को धारण करनेवाले दोनों मुनिराज, उसे छलांग भरती देख 'यदि इस उपसर्ग से बचे तो आहार-पानी ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं' इस प्रकार की सालम्ब प्रतिज्ञा लेकर निर्भय हो कायोत्सर्ग से खड़े हो गये। वह दयाहीन व्याघ्री सुकौशल मुनि के ऊपर उछल पड़ी और नखों के द्वारा उनके मस्तक आदि अंगों को विदारती हुई पृथ्वी पर आयी। उसने उनके समस्त शरीर को चीर डाला। इसके बाद वह पापिन उनके सामने खड़ी होकर तथा नाना प्रकार की चेष्टाएँ कर उन्हें पैर की ओर से खाने लगी।

ओहो मोह की चेष्टा तो देखो ! जहाँ माता ही प्रिय पुत्र के शरीर को खाती है। इससे बढ़कर और क्या कष्ट की बात होगी कि पूर्व जन्म के मोही बान्धवजन ही अनर्थकारी शत्रुता को प्राप्त हो जाते हैं।

उसीसमय मेरु के समान स्थिर और शुक्ल ध्यान को धारण करने वाले सुकौशल मुनि को शरीर छूटने से पहले ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और उनका शरीर भी सर्वांग सुन्दर हो गया। सुर और असुरों ने इन्द्र के साथ आकर बड़े हर्ष से दिव्य पुष्पादि सम्पदा के द्वारा उनके शरीर की पूजा की। सुकौशल के पिता कीर्तिधर मुनिराज ने उस व्याघ्री को मधुर शब्दों से सम्बोधा, जिससे वह संन्यास मरण कर स्वर्ग को प्राप्त हुई। इसके बाद उसीसमय कीर्तिधर मुनिराज को भी शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इस प्रकार महिमा को करने वाले देवों की वही एक यात्रा पिता और पुत्र दोनों का केवलज्ञान महोत्सव करने वाली हुई। सुर और असुर केवलज्ञान की परम महिमा फैलाकर तथा दोनों केवलियों के चरणों को नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थान पर चले गये।

आचार्य कहते हैं कि 'जो पुरुष सुकौशलस्वामी के माहात्म्य को पढ़ता है, वह उपसर्ग से रहित हो; चिरकाल तक सुख से जीवित रहता है।'

आधार :- आचार्य रविषेण रचित पद्मपुराण

31 अनंगलवण व मदनांकुश चरित (लव-कुश)

लंका पर विजय प्राप्त करके राम लक्ष्मण आदि समस्त बन्धुजनों के साथ महासती सीता को ससम्मान अपने साथ लेकर अयोध्यापुरी में प्रविष्ट हुए। एक ओर अयोध्यावासी राम आदि का भव्य स्वागत कर रहे थे तो दूसरी ओर यह चर्चा चल पड़ी कि 'राजा दशरथ के पुत्र राम समस्त शास्त्रों में निपुण होकर भी विद्याधरों के अधिपति रावण के द्वारा अपहृत एवं उसके यहाँ रही हुई सीता को स्वीकृत कर अपने साथ ले आये। यदि हम लोग भी ऐसा ही करें तो उसमें कुछ भी दोष नहीं है, क्योंकि जगत के लिए तो विद्वान् ही परम प्रमाण हैं तथा 'जैसा राजा, वैसी प्रजा।'

जब यह अपवाद विजय नामक पुरुष ने अभयदान मिलने पर हाथ जोड़ कर मंद स्वर में राम के सामने निवेदन किया, तब उक्त निवेदन को सुनकर राम एक क्षण को विचलित हो उठे, फिर विचार करने लगे कि 'हाय-हाय, यह बड़ा कष्ट आ पड़ा है; जो मेरे यशरूपी कमलवन को जलाने के लिए अग्नि के समान है। लोग ठीक ही तो कहते हैं कि जिस घर का पुरुष दुष्ट है, ऐसे पराये घर में रही हुई लोकनिन्द्य सीता को मैं क्यों ले आया ? एक ओर लोक निन्दा है और दूसरी ओर कठिनाई से छूटने योग्य स्नेह है। मैं जानता हूँ कि देवी सीता सती और शुद्ध हृदयवाली नारी है, पर जब तक वह हमारे घर में स्थित है, तब तक यह अवर्णवाद शस्त्र और शास्त्रों के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता।'

इस प्रकार विचारकर राम ने गर्भवती सीता को त्यागने का निश्चय कर लिया। विनयवान लक्ष्मण के द्वारा अनेक प्रकार से समझाने पर भी राम ने अपना निर्णय नहीं बदला। उन्होंने तुरंत कृतान्तवक्त्र नामक सेनापति को बुलाकर उसे आदेश दिया कि 'सीता को तीर्थ वन्दना की भावना है, अतः उसे सम्मेदाचल आदि तीर्थों की वंदना कराते हुए अन्त में सिंहनाद नामक निर्जन वन में छोड़कर शीघ्र ही वापस आ जाना।' आदेश पाकर बिना किसी तर्क-वितर्क के 'जो आज्ञा' कहकर वह सीता के पास गया और तीर्थवंदना हेतु चलने के लिए निवेदन करने लगा। सीता तीर्थदर्शन हेतु अत्यन्त उत्साहपूर्वक सभी से विदा लेकर रथ पर सवार हो गयी। सेनापति अनेक तीर्थों की वंदना कराते हुए सीता को निर्जन वन में ले गया। फिर रथ खड़ा करके अपने दोनों हाथ मस्तक पर रखकर जोर-जोर से रोने लगा। सीता के द्वारा उसके रोने का कारण पूछने पर वह बोला कि 'हे देवी ! दुर्जनों के वचन सुनकर अपकीर्ति के भय से तीर्थवंदना के बहाने राम ने कठिनाई से छूटने योग्य स्नेह छोड़कर तुम्हें उस तरह छोड़ दिया है, जिस तरह मुनि रति को छोड़ देते हैं।'

सेनापति के द्वारा राम की आज्ञा सुनकर पहले तो सीता अत्यन्त दुःखी हुई, फिर धैर्य धारण कर सीता ने सेनापति से कहा कि 'तुम मेरी ओर से राम से कहना कि आपको मुझे त्यागने के लिए दुःखी नहीं होना चाहिए। तथा परम धैर्यपूर्वक सदा पिता के समान न्यायपूर्वक प्रजा का अच्छी तरह पालन करना चाहिए। परन्तु साम्राज्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन को श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि साम्राज्य तो नष्ट हो जाता है, परन्तु सम्यग्दर्शन स्थिर सुख को देने वाला है। अतः अभव्यों के द्वारा की गयी निन्दा से भयभीत होकर कभी भी सम्यग्दर्शन धर्म नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि वह अत्यन्त दुर्लभ है।' इस प्रकार सीता का संदेश लेकर तथा स्वयं की दासवृत्ति की मन-ही-मन निंदा करता हुआ कृतान्तवक्त्र सेनापति सीता को निर्जन वन में छोड़कर अयोध्या की ओर चल पड़ा।

जो रथ से पहले ही उतर चुकी थी, ऐसी सीता मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। चेतना प्राप्त होने पर दुःख से विलाप करते हुए वह कहने लगी कि 'हे राम ! मेरे त्याग में आपका लेशमात्र भी दोष नहीं है। मैंने पूर्वभव में जो कर्म किया था, उसी का यह फल है। निश्चित ही मैंने गोष्ठियों में किसी का मिथ्या दोष कहा होगा या गुरु के समक्ष व्रत लेकर भग्न किया होगा या विषफल के समान कठोर वचनों से किसी का तिरस्कार किया होगा या कोई अन्य पाप कर्म किया होगा, जिसके फल में मेरा अपवाद हुआ; अपने पति के द्वारा त्यागी गयी और इस महादुःख संकट को प्राप्त हुई हूँ।'

इस प्रकार दुःखी होकर सीता जब विलाप कर रही थी, तभी वज्रजंघ नामक एक राजा उस वन में आया। वह पुण्डरीकपुर का स्वामी था, हाथी पकड़ने के लिए उस वन में आया था और हाथी पकड़कर बड़े वैभव के साथ लौटकर अपने नगर की ओर जा रहा था। तभी राजा वज्रजंघ ने सीता के रोने का शब्द सुना। समस्त लक्षणों को जानकर राजा तत्काल समझ गया कि 'जिस स्त्री का यह अत्यन्त मनोहर रोने का शब्द सुनायी पड़ रहा है, वह अत्यन्त कान्तिवाली, पतिव्रता तथा अनुपम गर्भिणी है। निश्चय ही यह किसी श्रेष्ठ पुरुष की स्त्री है।' अतः आश्चर्यचकित हो सम्यग्दर्शन से युक्त, जिनशासन के रहस्य का ज्ञाता, परस्त्री को अजगर के समान समझने वाला, मातृ-जाति का रक्षक, धर्म में सदा आसक्त रहने वाला राजा वज्रजंघ सीता के पास पहुँचा और शुद्धदृष्टि से सीता को देखकर विनयपूर्वक पूछा कि 'हे देवि ! आपकी यह अवस्था कैसे हुई ? कहो, निश्चिंत होओ, डरो मत तथा गर्भ को कष्ट मत पहुँचाओ। इसप्रकार राजा के बार-बार पूछने पर सती सीता ने अपना सारा परिचय दिया तथा सम्पूर्ण पूर्व घटित घटना सुना दी।

सीता के मुख से सम्पूर्ण वृत्तांत सुनकर राजा बहुत दुःखी हुआ। सीता को राजा जनक की पुत्री जानकर उसे सान्त्वना देते हुए अपना सारा परिचय दिया और सीता से बोला कि 'हे उत्तम शीलशोभिते ! तुम परम धन्य हो, जो तुम्हें जिनचैत्यालयों की वन्दना की भावना हुई। आज भी तुम्हारा पुण्य मुझे हाथी के निमित्त से वन में तुम्हारे पास लाया है। हे गुणवति ! तुम धर्म-विधि से मेरी बड़ी बहन हो। चलो उठो, अपने इस भाई के नगर चलो। शोक छोड़ो, क्योंकि शोक करने से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। हे पतिव्रते ! तुम वहाँ रहोगी तो पश्चात्ताप से आकुल होते हुए राम निःसंदेह फिर से तुम्हारी खोज करते हुए वहाँ आयेंगे।'

इस प्रकार धर्म के मर्म को जानने वाले वज्रजंघ के द्वारा समझायी गयी सीता इस प्रकार धैर्य को प्राप्त हुई मानो उसे अपना भाई ही मिल गया हो। राजा वज्रजंघ के द्वारा तैयार करायी गयी उत्तम पालकी में बैठकर सती सीता पुण्डरीक देश पहुँची। नगर में सीता का भव्य स्वागत हुआ। नगरवासी सीता के दर्शन के लिए उमड़ पड़े। वज्रजंघ की स्त्रियों ने उनका बहुत सम्मान किया। सीता को वज्रजंघ के घर के समीप स्थित महल में ठहराया गया। राजा व्रजजंघ, भाई भामण्डल के समान ही सीता की सेवा करता था। इस प्रकार सीता निरन्तर धर्म सम्बन्धी एवं राम सम्बन्धी कथा करते हुए वहाँ सुखपूर्वक निवास करने लगी।

नौवा महीना पूर्ण होने पर श्रावणमास की पूर्णिमा के दिन, उत्तम मंगलाचार से युक्त, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण एवं पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाली सीता ने सुखपूर्वक सुखदायक दो पुत्र, वैसे ही उत्पन्न किये, जैसे नौ माह पूर्व ब्रह्ममुहूर्त में स्वप्न में दो अष्टापदों को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा था और श्रीराम ने उन स्वप्नों के फल में उत्तम युगल पुत्रों के उत्पन्न होने की बात सीता को कही थी। उन दोनों के उत्पन्न होते ही प्रजा नाच उठी; शंख, भेरियाँ और नगाड़े बजने लगे। बहन की प्रीति से राजा ने महान उत्सव किया। उन दो पुत्रों में से एक का नाम 'अनंगलवण' और दूसरे का 'मदनांकुश' रखा गया। वे दोनों लव-कुश के नाम से प्रसिद्ध हुए।

माता के हृदय को आनन्दित करने वाले वे दोनों बालक क्रम-क्रम से वृद्धि को प्राप्त होने लगे। उत्तम लक्षणों से युक्त, सुन्दर चेष्टाएँ करने वाले उन पुत्रों को देखकर माता सीता शोक के समस्त कारण भूल गयीं। इसप्रकार क्रमशः बढ़ते हुए वे दोनों सुन्दर बालक विद्या ग्रहण के योग्य शरीर की अवस्था को प्राप्त हुए।

उनके पुण्ययोग से 'सिद्धार्थ' नामक शुद्ध हृदय वाला एक प्रसिद्ध क्षुल्लक राजा वज्रजंघ के घर आया। वह क्षुल्लक महाविद्याओं से इतना पराक्रमी था कि क्षणभर में मेरुपर्वत पर स्थित जिनप्रतिमाओं की वंदना कर अपने स्थान पर आ जाता था। वह प्रशान्त मुख, धीर-वीर, शुद्ध भावनाओं से युक्त चित्तवाला, वस्त्रमात्र परिग्रह का धारक, केशलुंच करने से सुशोभित मस्तक वाला, उत्तम अणुव्रती, गुणवान, जिनशासन के रहस्य को जानने वाला, कलाविज्ञ, पिछी को प्रिय सखी के समान बगल में धारण करनेवाला था तथा अमृत के समान मनोहर 'धर्मवृद्धि' शब्द का उच्चारण करता था। वह श्वेत कोपीन और खण्डवस्त्र को धारण किये हुए घर-घर में भिक्षा लेता हुआ धीरे-धीरे भ्रमण करता हुआ संयोगवश उस उत्तम घर में जा पहुँचा, जहाँ सीता सुख से बैठी थी।

जिनशासन देवी के समान मनोहर भावना को धारण करने वाली सीता ने ज्यों ही क्षुल्लक को देखा, त्यों ही वह अपने नौखण्डा महल से उतरकर नीचे आ गयी तथा पास जाकर और दोनों हाथ जोड़कर उसने 'इच्छाकार' आदि के द्वारा उसकी अच्छी तरह पूजा की। विधि के जानने में निपुण सीता ने उसे आदरपूर्वक विशिष्ट अन्न-पान देकर संतुष्ट किया, सो ठीक ही है, क्योंकि वह जिनशासन में आसक्त मनुष्यों को अपना बन्धु समझती थी। भोजन के बाद अन्य कार्य छोड़ वह क्षुल्लक निश्चिंत हो सुख से बैठ गया। अत्यधिक उपचार और विनय के प्रयोग से जिसका मन हरा गया था, ऐसे क्षुल्लक ने अत्यन्त संतुष्ट होकर लवण-अंकुश को देखा। अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता उस क्षुल्लक ने श्राविका के व्रत को धारण करने वाली सीता से उसके पुत्रों के विषय में पूछा। तब सीता ने रोते हुए सारी कथा सुना दी, जिसे सुनकर क्षुल्लक भी दुःखी हो गया। उसने सीता को सान्त्वना देते हुए कहा कि 'हे देवी! तुम्हारे तो देवकुमारों के समान ये दो बालक हैं; तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।'

लवण-अंकुश के प्रति अत्यधिक स्नेह से वशीभूत होकर उस क्षुल्लक ने उन दोनों को विद्या प्रदान करने का विचार किया। उसने थोड़े ही समय में उन दोनों को शस्त्र और शास्त्र दोनों ही विद्याओं में पारंगत विद्वान् बना दिया। वे दोनों कुछ ही समय में ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, कलाओं और गुणों में विशारद तथा दिव्य शस्त्रों के आह्वान एवं संचालन में अत्यन्त निपुण हो गये। महापुण्य के प्रभाव से वे दोनों आवरणरहित, रत्नों से भरे कलशों के समान महान विद्या-धन से सम्पन्न हो गये। यदि शिष्य सक्षम है तो उसे विद्यावान बनाने में गुरु को रंचमात्र भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता, क्योंकि सूर्य के द्वारा नेत्रवान पुरुष के लिए समस्त पदार्थ सुख से दिखा दिये जाते हैं। पात्र के लिए उपदेश देने वाला गुरु कृतकृत्यता को प्राप्त होता है, क्योंकि जिसप्रकार उल्लू के लिए किया हुआ सूर्य का प्रकाश व्यर्थ होता है, उसीप्रकार अपात्र के लिए दिया हुआ गुरु का उपदेश व्यर्थ होता है।

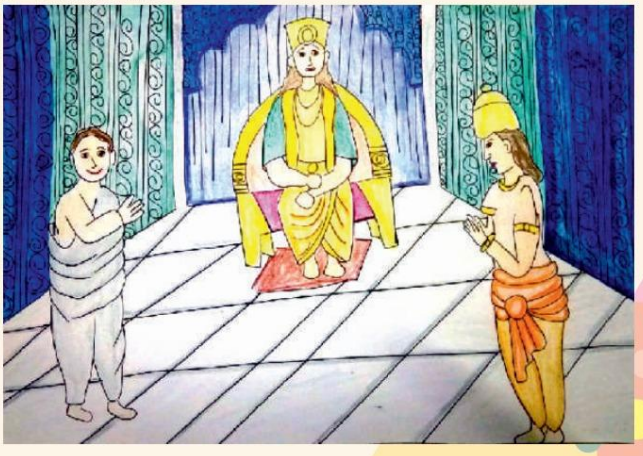

उन दोनों कुमारों का यश और प्रताप निरन्तर बढ़ते हुए पूरे संसार में फैलने लगा था। वे चन्द्रमा के समान सुन्दर थे और सूर्य के समान तेजस्वी होने के कारण उनकी ओर देखना कठिन था। 'जैसा लवण (लव) है, वैसा ही अंकुश (कुश) है, इसप्रकार उन दोनों के विषय में लोग चर्चा करते थे। उन दोनों के वक्षःस्थल श्रीवत्स चिह्न से अलंकृत थे।

जब दोनों कुमार विवाह योग्य हुए, तब राजा वज्रजंघ ने अपनी पुत्री शशिचूला आदि का विवाह लवण के साथ करना निश्चित किया। राजा दोनों कुमारों का विवाह एक साथ देखना

चाहता था। अतः अंकुश के लिए कन्या की खोज शुरु कर दी। उसने अंकुश के लिए राजा पृथु की कनकमाला पुत्री के लिए याचना की, परन्तु अंकुश के कुल–गोत्र का निश्चय न होने से राजा पृथु ने अपनी पुत्री देने से इंकार कर दिया। तब दोनों राजाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ।

युद्ध में उन दोनों वीरकुमारों ने अपने बाणों से अपने कुल और शील का परिचय दिया। अन्ततः दोनों कुमारों की सहायता से राजा व्रजजंघ की युद्ध में विजय हुई। तब राजा पृथु ने क्षमायाचना करते हुए अपनी पुत्री कनकमाला अंकुश के लिए देना निश्चित की। इस प्रकार दोनों वीरकुमारों का विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। दोनों कुमारों ने अपने प्रताप से अनेक देशों को जीत लिया। उनकी वीरता देखकर उनकी माता सीता अत्यन्त प्रसन्न हुईं। दिग्विजय से लौटकर दोनों पुत्रों ने अपनी माता को नमस्कार किया और माता ने आनन्दपूर्वक उनका मस्तक चूमा। इस प्रकार वे सभी सुख से निवास करने लगे।

एक दिन नारद कृतान्तवक्त्र सेनापति से सीता के छोड़ने का स्थान पूछकर उसकी खोज करते हुए वहाँ पहुँचे। वहाँ नारद ने उन दोनों वीर कुमारों को देखा। क्षुल्लक वेषधारी नारद को देखकर दोनों कुमारों ने आसन आदि देकर उनका सम्मान किया। तब प्रसन्न होकर नारद ने उन कुमारों से कहा कि 'आप दोनों भी शीघ्र ही राजा राम–लक्ष्मण जैसी विभूति को प्राप्त करो।' यह सुनकर दोनों कुमारों ने नारद से राम–लक्ष्मण के विषय में विस्तार से बताने का निवेदन किया।

नारद ने बलभद्र राम और नारायण लक्ष्मण की पूर्व घटित सम्पूर्ण कथा लवण और अंकुश के सामने विस्तार से सुनायी, परन्तु जब लोकापवाद के भय से राम के द्वारा सीता को वन में छोड़ने का प्रसंग आया, तब अंकुश हँसते हुए बोला कि 'लोकापवाद के निराकरण के अनेक उपाय होने पर भी राम ने सीता को भयंकर वन में छोड़कर अपने कुल के अनुरूप कार्य नहीं किया। हम राम–लक्ष्मण को जीतने के लिए अभी चलते हैं। उन दोनों का अहंकार अभी नष्ट कर देते हैं। फिर उन वीरों ने अपनी आज्ञा में चलने वाले सभी राजाओं को युद्ध के लिए आदेश दिया। उनकी राम से युद्ध की बात सुन सीता जोर–जोर से रोने लगी। तब अपने पुत्रों द्वारा पूछने पर सीता ने उन्हें अपना और राम का सारा वृत्तान्त सुना दिया। राम उन दोनों के पिता हैं, यह जानकर वे परम हर्ष और आश्चर्य से खिल उठे। सीता के रोकने पर भी दृढ़तापूर्वक अपनी माता को सान्त्वना देते हुए उन्हें प्रणाम कर वे युद्ध के लिए चल पड़े।

लवण–अंकुश और राम–लक्ष्मण की सेनाओं के बीच महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। इसी बीच क्षुल्लक सिद्धार्थ और नारद ने शीघ्र जाकर भामण्डल को उसकी बहन सीता का समाचार दिया। समाचार मिलते ही भामण्डल सीता से मिलने पुण्डरीकपुर जा पहुँचा। क्रमशः हनुमान से लेकर लक्ष्मण तक को दोनों वीरकुमारों का परिचय दिया, तब सभी ने युद्ध छोड़ दिया। जब राम ने यह वृत्तान्त सुना तो वे मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े। सचेत होने पर पिता–पुत्र का मिलाप हुआ। पुत्रों ने अपने पिता राम को प्रणाम किया, राम ने उन्हें गले से लगा लिया। लक्ष्मण आदि ने भी विनय से नम्रीभूत दोनों पुत्रों का बड़े स्नेह से आलिंगन किया। इस समागम को देखकर दसों दिशाओं में आनन्द छा गया। सभी अयोध्या की ओर चल दिये तथा राम की आज्ञा से भामण्डल, हनुमान आदि सीता को पुष्पक विमान में बैठाकर अयोध्या में वापस ले आये।

सीता की अग्निपरीक्षा हुई और देवों द्वारा अग्निकुण्ड जलकुण्ड में बदल दिया गया। सीता ने राज्यलक्ष्मी छोड़कर अर्जिका के व्रत लिये। कुछ समय बाद नारायण लक्ष्मण की मृत्यु हो गयी। बलभद्र राम स्नेहवश छह माह तक अपने प्रिय भाई लक्ष्मण को गोद में लेकर घूमते रहे – इस प्रसंग को देखकर लवण–अंकुश वीरकुमारों को संसार की क्षणभंगुरता का बोध हुआ।

वे दोनों विचार करने लगे कि 'सारहीन इस मनुष्य पर्याय को धिक्कार हो ! जिसे देव और विद्याधर भी वश नहीं कर सके थे – ऐसा यह नारायण भी काल के पाश के वशीभूत हो गया। इस नश्वर शरीर और नश्वर धन से हमें क्या प्रयोजन है ? ऐसा विचार कर 'पुनः गर्भावास में न जाना पड़े' इससे भयभीत हुए दोनों वीर, पिता को नमस्कार कर पालकी में बैठकर महेन्द्रोदय नामक उद्यान में चले गये। वहाँ अमृतस्वर नामक मुनिराज की शरण प्राप्तकर वे दोनों बड़भागी मुनि हो गये।

देखो ! नारायण लक्ष्मण की मृत्यु से एक ओर राम शोकरूपी बड़ी भँवर में घूम रहे थे और दूसरी ओर लवण और अंकुश संसार से विरक्त हो, मुनि हो गये थे। सो ठीक ही है, संसार में मनुष्य अनेक प्रकार के हृदय को धारण करते हैं, इसलिए कर्मयोग से अपने प्रियजनों की ऐसी अवस्था होने पर कोई तो शोक को प्राप्त होते हैं और कोई वैराग्य को। जब समय पाकर स्वकृत कर्म का उदयरूप अन्तरंग निमित्त मिलता है, तब बाह्य में किसी भी परपदार्थ का निमित्त पाकर जीवों के प्रतिबोधरूपी सूर्य उदित होता है और उन्हें वैराग्य हो जाता है।

इस प्रकार लवण और अंकुश मुनि होकर महान तप करने लगे और एक दिन जब वे दोनों विंध्यगिरि में स्थित 'पावागढ़' नामक स्थान पर स्थित होकर आत्मध्यान कर रहे थे, तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और अनन्त चतुष्टय से युक्त अरहंत हो गये। फिर वे बचे हुए चार अघातिया कर्मों का क्षयकर शाश्वत अनन्त आनन्द को देने वाली सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए।

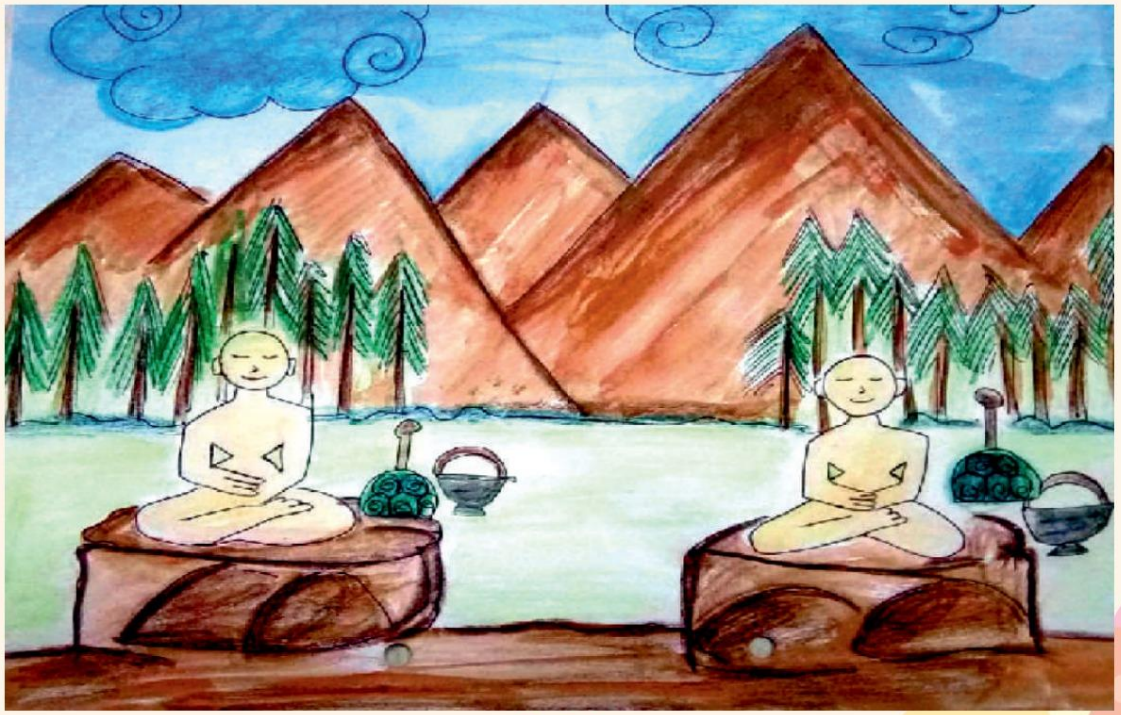

आधार :– आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण

32 चरित्रवान एवं महापराक्रमी बालक : कृष्ण

मथुरा का राजा था कंस। वह महाराजा उग्रसेन का पुत्र था। उसने अपने पिता को बंदी बनाकर उनका राज्य छीन लिया था और स्वयं राजा बन गया था। वह वसुदेव का शिष्य था, इसलिए उनके सामने सदैव नतमस्तक रहता था। वह अपने गुरु वसुदेव का प्रत्युपकार करना चाहता था। एक दिन वह बड़ी विनय और भक्ति से वसुदेव को मथुरा ले आया। उसने गुरु दक्षिणा के रूप में अपनी बहन देवकी वसुदेव को प्रदान कर दी। सर्वगुण सम्पन्न देवकी के साथ विवाह कर कंस के आग्रह पर वसुदेव मथुरा में ही रहने लगे।

एक दिन अति मुक्तक मुनिराज के माध्यम से कंस को ज्ञात हुआ कि 'देवकी का पुत्र उसकी मृत्यु का कारण बनेगा।' तब उसने अपनी चतुराई से वसुदेव से वचन ले लिया कि 'देवकी की प्रसूति उसके घर में ही हो।' वसुदेव तब तक कंस के मनोभावों से अनजान थे। बाद में उन्हें सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ, परन्तु वे वचनबद्ध थे। तब वसुदेव अतिमुक्तक मुनिराज के पास अपनी आशंका दूर करने हेतु पहुँचे। मुनिराज ने अवधिज्ञान रूपी नेत्रों से देखकर बताया कि 'उसके पुत्र को कंस से कोई हानि नहीं पहुँचेगी,' तब निःशंक होकर वसुदेव कंस के महल में रहने लगे। वसुदेव पहले के समान ही अति आसक्त होकर देवकी के साथ रमण करने लगे तथा मृत्यु की शंका से शंकित कंस भी अपने मनोभावों को छिपाकर पूर्ववत् उनकी सेवा में लगा रहता था।

देवकी ने निश्चित कालान्तर के बाद क्रम-क्रम से तीन बार चरमशरीरी युगल पुत्रों को जन्म दिया। इन्द्र की आज्ञा से सुनैगम नामक देव ने तीनों बार उन युगल पुत्रों को उठाकर सुभद्रिल नगर के सेठ सुदृष्टि की स्त्री अलका की गोद में पहुँचा दिया और उनके यहाँ जन्मे निष्प्राण तीन युगल पुत्रों को ले जाकर देवकी के प्रसूति गृह में रख दिया। सूचना मिलते ही कंस ने क्रमशः उन निष्प्राण पुत्रों को शिला पर पछाड़ दिया। वहाँ पुण्य जिनकी रक्षा कर रहा था, जो अलका सेठानी के लिए अत्यन्त प्रिय थे, ऐसे वसुदेव के वे छहों पुत्र धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होने लगे। तथा यहाँ पति के कहने से जिसने सन्तान के वियोगजन्य दुख को दूर कर दिया था, ऐसी देवकी भी धीरे-धीरे दिनोंदिन पहले की ही तरह कान्ति को प्राप्त हो गयी।

एक दिन देवकी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में अभ्युदय को सूचित करने वाले सात शुभ स्वप्न देखे। सुबह जागकर अपने पति वसुदेव से स्वप्नों का फल जानने के लिए उनके पास पहुँची। वसुदेव ने देवकी को बताया कि 'उसके गर्भ में महान सौभाग्यशाली, पराक्रमी, समस्त शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र स्वर्ग से अवतीर्ण हो चुका है। स्वप्नों का फल जानकर देवकी अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुई।

ज्यों-ज्यों देवकी का गर्भस्थ शिशु वृद्धि को प्राप्त होता गया, त्यों-त्यों धरती पर चारों ओर खुशहाली बढ़ती गयी और कंस के मन में दुःख बढ़ता गया। कंस गर्भस्थ शिशु के दिन व महीनों की गिनती लगाता रहता था

और उसकी पूरी देख–रेख करता रहता था। सामान्यतौर पर सभी बालक नौ मास में ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु कृष्ण श्रावण नक्षत्र में भाद्रमास के शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि को पवित्र करते हुए सातवें महीने में ही उत्पन्न हो गये।

जिनका शरीर शंख–चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त था, जिनके शरीर से दैदीप्यमान महानीलमणि के समान प्रकाश प्रकट हो रहा था और जो प्रकृष्ट कान्ति से सहित थे, ऐसे कृष्ण ने अपनी कान्ति से देवकी के प्रसूतिका गृह को प्रकाशमान कर दिया। उससमय उस पुरुषोत्तम के प्रभाव से स्नेही बन्धुजनों के घरों में अपने आप शुभ निमित्त प्रकट हुए और शत्रुओं के घरों में भय उत्पन्न करने वाले निमित्त प्रकट हुए। उन दिनों सात दिन से लगातार घनघोर बारिश हो रही थी, फिर भी उत्पन्न होते ही बालक कृष्ण को भाई बलदेव ने उठा लिया और पिता वसुदेव ने उन पर छाता तान दिया एवं रात्रि के समय ही दोनों शीघ्र ही घर से बाहर निकल पड़े। उससमय समस्त नगरवासी और कंस के सुभट गहरी नींद में सो रहे थे, इसलिए कोई भी उन्हें देख नहीं सका। गोपुरद्वार पर आये तो किबाड़ बन्द थे, परन्तु कृष्ण के चरणों का स्पर्श पाते ही उनमें निकलने योग्य जगह बन गयी, जिससे वे सब बाहर निकल गये।

उससमय यमुना का अखण्ड प्रवाह बह रहा था, परन्तु कृष्ण के प्रभाव से उसका महाप्रवाह शीघ्र ही खण्डित हो गया। वहाँ से नदी को पारकर वे वृन्दावन की ओर गये। वहाँ गाँव के बाहर सुनन्द नाम का गोप अपनी पत्नी यशोदा के साथ रहता था। वह वंश परम्परा से उनका बड़ा ही विश्वासपात्र व्यक्ति था। बलदेव और वसुदेव ने कृष्ण को उन्हें सौंप दिया और उनसे कहा कि 'यह महाप्रतापी बालक है, इसे अपना पुत्र समझकर पालो और यह रहस्य किसी के सामने प्रकट न हो जाये, इसका ध्यान रखो।' इसके बाद उसी समय उत्पन्न हुई यशोदा की पुत्री को लेकर दोनों ही वापस आ गये और शत्रु को विश्वास दिलाने के लिए उसे रानी देवकी को सौंप दिया।

बहन की प्रसूति का समाचार पाकर निर्दय कंस प्रसूतिका–गृह में घुस गया। वहाँ निर्दोष कन्या को देखकर यद्यपि उसका क्रोध दूर हो गया, फिर भी दूरदर्शी होने के कारण उसने विचार किया कि 'हो सकता है, इसका पति मेरा शत्रु हो।' इस शंका से आकुलित होकर उसने उस कन्या को स्वयं उठा लिया और हाथ से उसकी नाक मसलकर चपटी कर दी।

देवकी को कष्ट पहुँचाने वाले कंस ने जब देखा कि अब देवकी के पुत्र होना बंद हो गये हैं, तब वह संतुष्ट हो हृदय की क्रूरता छिपाकर कुछ दिनों तक निश्चिंत हो निवास करने लगा।

इन्द्रनीलमणी के समान आभावान होने के कारण बालक का नाम 'कृष्ण' रखा गया। वह व्रजवासी बालक नन्द और यशोदा की अभूतपूर्व प्रीति को बढ़ाता हुआ सुख से बढ़ने लगा। जब वह बालक लेटे हुए गदा, चक्र, शंख आदि शुभ चिह्नों से युक्त अपने हाथ–पैर चलाता था, तब गोप–गोपियों के मन को बरबस खींच लेता था। नीलकमल जैसी सुन्दर शोभा से युक्त उस मनोहर बालक को गोपिकाएँ अतृप्त नेत्रों से टकटकी लगाकर देखती रहती थीं। वह बालक कभी तो सोता था, कभी बैठता, कभी छाती के बल सरकता, कभी लड़खड़ाते पैर उठाकर चलता, कभी दौड़ा–दौड़ा फिरता, कभी मधुर आलाप करता और कभी माखन खाता– इस प्रकार दिन–रात व्यतीत करता था।

किसी दिन कंस के हितैषी वरुण नामक निमित्तज्ञानी ने उसे बताया कि 'यहाँ कहीं नगर या वन में उसका शत्रु बढ़ रहा है, उसकी खोज करनी चाहिए।' तब कंस ने पूर्वभव के तप से सिद्ध हुईं देवियों का स्मरण किया। स्मरण करते ही वे उसके समक्ष उपस्थित होकर बोलीं कि 'बलभद्र और नारायण को छोड़कर जिसे भी क्षणभर में नष्ट करना हो, आज्ञा दीजिए।' तब कंस ने अपने शत्रु बालक को खोजकर तत्काल मारने का आदेश दिया। आदेश मिलते ही, देवियों ने क्रमशः भयंकर पक्षी, कुपूतना, पिशाची, वृक्ष, बैल आदि का रूप बनाकर कृष्ण को मारने की कोशिश की, परन्तु कृष्ण ने उन्हें क्षणमात्र में ही परास्त कर दिया। तब एक अन्य देवी ने तीव्र वर्षा से कृष्ण को मारना चाहा तो निर्भीक कृष्ण ने गोकुल की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत उठा लिया और वर्षा से सभी की रक्षा की। कृष्ण के पराक्रम को देखकर व सुनकर गोकुलवासियों के साथ-साथ नन्दगोप, यशोदा, बलदेव, देवकी और वसुदेव भी अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुए।

कृष्ण अत्यन्त बुद्धिमान थे, अतः बलदेव ने प्रतिदिन गोकुल जा-जाकर उन्हें अनेक कलाओं और गुणों की शिक्षा दी थी, जिसे उन्होंने शीघ्र ही ग्रहण कर लिया, सो ठीक ही है, क्योंकि स्थिर रूप से उपदेश ग्रहण करने वाले विनयी शिष्य के मिलने पर गुरुओं के उपदेश व्यर्थ ही समय नष्ट नहीं करते अर्थात् शीघ्र ही उसे निपुण बना देते हैं।

अत्यन्त निर्विकार या अत्यन्त कोमल हृदय को धारण करने वाले कुमार कृष्ण क्रीड़ाओं के समय अतिशय यौवन युक्त गोप कन्याओं को उत्तम रासों द्वारा क्रीड़ा कराते थे। वे रासक्रीड़ाओं के समय गोप बालाओं को अपने हाथों की अंगुलियों के स्पर्श से सुख उत्पन्न कराते थे, परन्तु स्वयं अत्यन्त निर्विकार रहते थे। जिसप्रकार उत्तम अंगूठी से जड़ा हुआ श्रेष्ठ मणि स्त्री के हाथ की अंगुलि का स्पर्श करता हुआ भी निर्विकार रहता है, उसी प्रकार महानुभाव कृष्ण भी गोप बालाओं के हाथों की अंगुलियों का स्पर्श करते हुए भी निर्विकार रहते थे। रासक्रीड़ा अर्थात् खेल के समय कृष्ण को पाकर जिस प्रकार सभी को प्रसन्नता होती थी, उसी प्रकार उनके विरह में उन्हें विरहजन्य पीड़ा भी होती थी।

कृष्ण की लोकोत्तर चेष्टाएँ सुनकर एक दिन कंस को उनके प्रति संदेह हो गया और वह उन्हें अपना शत्रु जानकर उन्हें खोजने गोकुल आया, परन्तु उसे वहाँ कृष्ण नहीं मिले, तब वह मथुरा वापस लौट आया। मथुरा में कंस के ज्योतिषी के कहे अनुसार उसने अपने शत्रु की तलाश के लिए नगर में घोषणा करा दी कि 'जो कोई यहाँ आकर सिंहवाहिनी नागशय्या पर चढ़ेगा, अजितंजय धनुष पर डोरी चढ़ायेगा और पांचजन्य शंख को फूँकेगा, उसे उसका मित्र समझा जायेगा और उसे अनेक उपहार दिये जायेंगे।

कंस की यह घोषणा सुनकर अनेक राजा मथुरा आये, परन्तु सभी नागशय्या को देखकर भयभीत हो गये और लज्जित होकर वापस लौट गये। एक दिन कंस का साला किसी कार्यवश गोकुल आया। वहाँ कृष्ण का अद्‌भुत पराक्रम देख प्रसन्न होकर उन्हें मथुरापुरी ले आया। कृष्ण तो उस महानागशय्या पर स्वाभाविक शय्या के समान चढ़ गये, शंख फूँक दिया और धनुष पर डोरी भी चढ़ा दी। यह सब देखकर कंस को विश्वास हो गया कि 'कृष्ण ही उसका शत्रु है।'

कंस ने कृष्ण को मारने के अनेक उपाय किये, पर वे सब विफल रहे। तब कंस ने कृष्ण को मल्ल युद्ध के लिए आमंत्रित किया। आमंत्रण मिलते ही कृष्ण अपने बड़े भाई बलदेव आदि सभी इष्टजनों के साथ मथुरा पहुँच गये। साथ ही वसुदेव ने राजा समुद्रविजय आदि अपने नौ बड़े भाइयों को सैन्यबल के साथ मथुरा बुला लिया। मल्लयुद्ध प्रारम्भ हुआ। कृष्ण पीताम्बर और बलदेव नीलाम्बर को धारण कर शोभायमान हो रहे थे। दोनों भाइयों में एक हजार सिंह और हाथियों का बल था। दोनों भाइयों ने मल्लयुद्ध में जब क्रमशः सभी योद्धाओं को मार भगाया, तब कंस स्वयं अपने हाथ में पैनी तलवार लेकर उनको मारने आया, परन्तु कृष्ण ने उसके हाथ से तलवार छीन ली और उसके बाल पकड़कर उसे धरती पर पटक दिया और उसके दोनों पैरों को खींचकर उसे पत्थर पर पछाड़ दिया, जिससे कंस प्राणरहित हो गया।

मथुरा और वृन्दावन में खुशी की लहर दौड़ पड़ी। वसुदेव का अपने भाइयों से मिलाप हुआ। कंस के पिता उग्रसेन को कंस के द्वारा छीना हुआ राज्य कृष्ण की सहायता से पुनः प्राप्त हो गया। महाराजा उग्रसेन को मथुरा का राज्य सौंपकर दोनों भाइयों ने अपने पिता वसुदेव, माता देवकी और राजा समुद्रविजय आदि सभी गुरुजनों को नमस्कार कर आशीर्वाद प्राप्त किया और उन सभी के साथ अपने पिता के घर सौर्यपुर जाकर वहाँ सुखपूर्वक निवास करने लगे।

आचार्य कहते हैं कि 'जो समस्त जीवों के लिए बन्धु के समान है, सभी की समृद्धि को बढ़ाने वाली है तथा लक्ष्मी और यश की माला से युक्त है, ऐसी यह जिनेन्द्रमतरूपी मेघ के जल की धारा शत्रुसमूहरूपी दावानल के गर्व को शान्त करती है और बन्धुजनों के महान हर्ष को उत्पन्न करती है।

देखो ! जिन पुण्यशाली कृष्ण को वृन्दावन की गोपियाँ बड़े स्नेह से माखन खिलाती थीं तथा जिनके साथ सुकुमार गोप एवं सुकुमारी गोपिकाएँ विविध खेल खेलते थे, खेलते समय गोपिकाओं द्वारा स्पर्श हो जाने पर भी जो सदा निर्विकार रहते थे, बड़ी विडम्बना है कि उन्हें लौकिकजनों ने माखनचोर एवं उनकी खेलकूदरूपी रासलीला को कामक्रीड़ा के समान निरूपित किया है। ऐसे लोग महापुरुषों के निर्मल चरित्र का अन्यथा निरूपण करके दर्शन मोहनीय कर्म का ही उपार्जन करते हैं तथा अपने संसार-दुख को ही बढ़ाते हैं।

आधार :- आचार्य जिनसेन स्वामी कृत हरिवंशपुराण

श्री पञ्च बालयति एवं विहरमान बीस तीर्थंकर जिनालय

* अंतर्गत *

श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट,

साधना नगर, एयरपोर्ट रोड, इन्दौर (म.प्र.) -452005

अकलंक-निकलंक जैन ग्रंथमाला का

आगामी प्रकाशन

Jain Rhymes & Poetry

Lyricist - Ashok Jain 'Shastri'

अकलंक पाठमाला

* हमारी गतिविधियाँ *

1. अकलंक-निकलंक पाठशाला (ऑनलाईन)
2. अकलंक-निकलंक जैन पाठशाला (चैनल)

https://youtube.com/channel/UC3jVA1DaPXxIfq7mD_6VzAQ

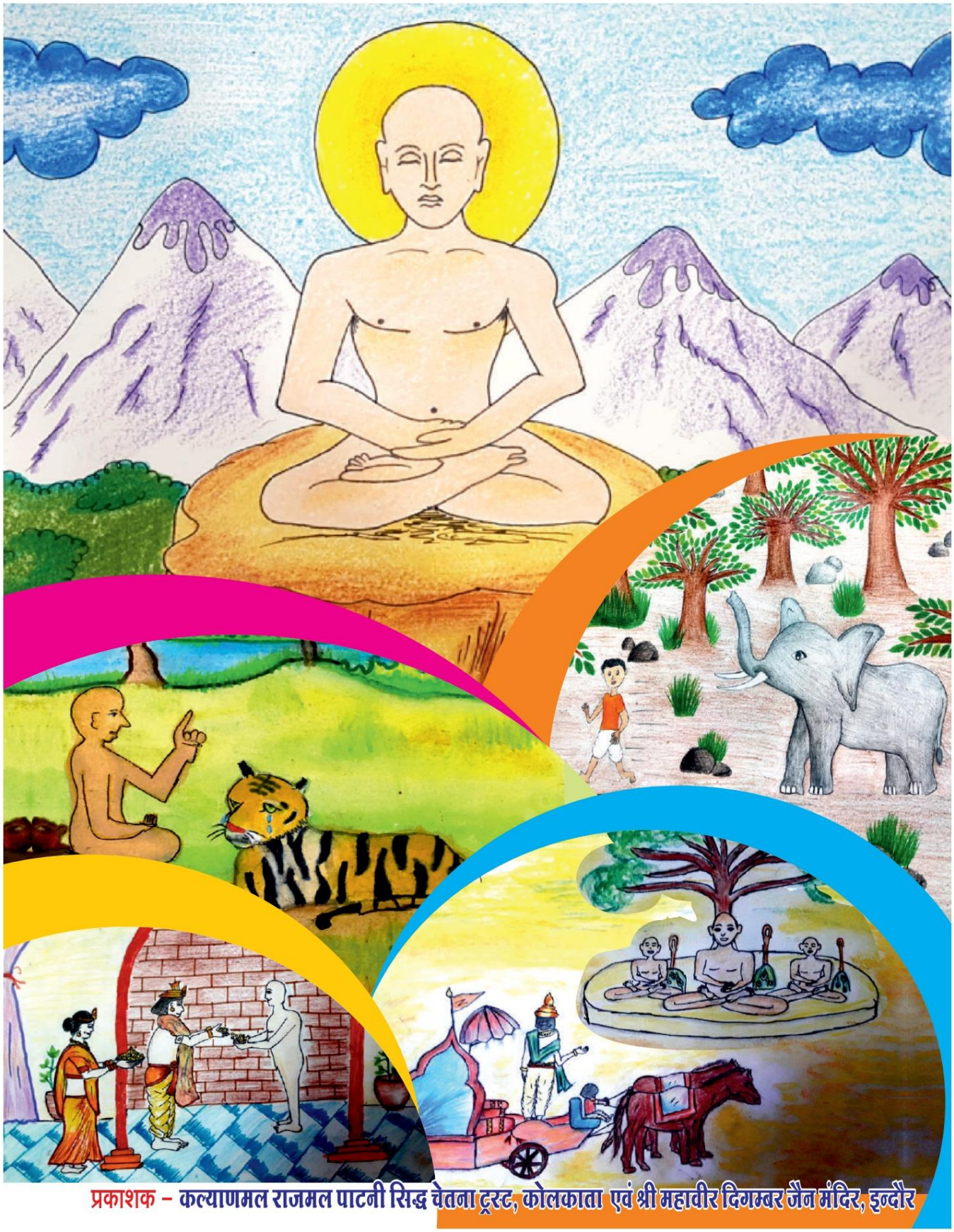

प्रकाशक – कल्याणमल राजमल पाटनी सिद्ध चेतना ट्रस्ट, कोलकाता एवं श्री महावीर दिगम्बर जैन मंदिर, इन्दौर